वस्तुकथा

(दूसरे संस्करण की)

अपने देश के वाङ्मय के अमर रत्नों को चुनने का सपना मेरे मन में पहले-पहल, जहाँ तक याद पड़ता है, संवत् १९८४ (सन् १९२७) में प्रकट हुआ था। तब इसकी चर्चा मैंने अपने अनेक सपनों की तरह स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी से की थी। सं० १९८९ के शुरू में नेपाल से लौटते हुए काशी में आदरणीय मित्र राय कृष्णदासजी के साथ बातों में पाँच बरस पुराना वह सपना फिर जाग उठा। उनके आग्रह से मैंने इस स्वप्न को योजना का रूप दे नागरी-प्रचारिणी सभा काशी के सामने रक्खा। फिर उन्हीं की प्रेरणा से उस योजना को लेख का रूप देकर द्विवेदी-अभिनन्दन ग्रन्थ में दिया। इसके प्रकाशित होने पर कई मित्रों ने आग्रह किया कि इसे अलग छपा लिया जाय। वैसा करने से पहले मैंने लेख का पुनः संस्करण कर दिया। पहले मैंने सोचा कि लेख या पुस्तिका में योजना की तरफ संकेत न करू; पर पीछे मुझे वह संकेत रखना इस कारण उचित दीख पड़ा कि

उस बहाने पाठकों को ठीक अन्दाज़ हो जायगा कि हमारे वाङ्मय के किस अंश में रत्नों का परिमाण कितना है।

आशा है भारतीय पाठकों को अपने संस्कृतिक दाय का अन्दाज़ देने में यह पुस्तिका सहायक होगी। विशेष कर संस्कृत और हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों को इससे यह ठीक पता मिल सकेगा कि भारतीय वाङ्मय के किस अंश का विकास इतिहास की किन परिस्थितियों में हुआ है। किसी वस्तु के स्वरूप को हम तब तक ठीक समझ हो नहीं सकते, जब तक यह न देखें कि किन इतिहास-परिस्थितियों में उसका जन्म और विकास हुआ है। एक छोटा सा नमूना। बचपन में जब मैंने *अमरकोश* पढ़ा, उसके देवकाण्ड के विषय में मुझे यह बात खटकती कि वहाँ विष्णु के नामों में केवल कृष्णावतार के नाम क्यों गिनाये हैं; मैं सोचता, या तो सब अवतारों के नाम होते या किसी का न होता, वैसा सोच कर मैं अमरसिंह की विषय-विभाग-शैली को दोष दिया करता। अब इतिहास पढ़ने पर यह बात समझ आई कि अमरसिंह के समय तक रामावतार का विचार उठा ही न था।

प्रयाग,

२० असौज, १९९०

(तीसरे संस्करण की)

मेरी इच्छा थी कि इस संस्करण में भारतीय वाङ्मय की कहानी को आधुनिक युग तक पहुँचा दूँ, अर्थात् देशी भाषाओं के वाङ्मयों का भी ऐतिहासिक दिग्दर्शन कर दूँ। समय न

मिलने से वह इच्छा अभी पूरी न हुई। पुस्तिका का प्राक्कथन लिख देने के लिए मैं डा० हीरानन्द शास्त्री का कृतज्ञ हूँ।

प्रयाग

८ जेठ, १९९४

(चौथे संस्करण की)

आज साढ़े बारह बरस बाद इस पोथी को फिर दोहरा कर ठीक करने का अवसर मुझे मिला है और देखता हूँ कि तेरह चौदह बरस पुरानी मेरी इच्छा अब भी पूरी नहीं हो रही है। छः बरस हुए अटक जिला-जेल के एकान्तवास में मैंने सोचा था कि जेल से निकल कर अपने सब ग्रंथों को पुनः सम्पादित कर एक ही स्थान से अच्छे रूप में प्रकाशित करने का उपाय करूँ, साथ ही अपने अधूरे ग्रन्थों को पूरा कर दूँ, और जो अन्य कृतियाँ विचार रूप से मन में हैं उन्हें लिख डालूँ। जेल से निकले भी चार बरस होने को आये; इस बीच लगातार इस उद्देश्य को पाने के लिए हाथ-पैर मारता रहा हूँ, तो भी अभी मुश्किल से इसके पहले अंश तक ही किसी तरह पहुँचने की आस बँधी है। यह पोथी इधर डेढ़ बरस से अप्राप्य थी, पर मेरे इसी कशमकश में फँसे रहने से इसका नया संस्करण इतने दिन तक टलता रहा। अब वह पाठकों की भेंट किया जा रहा है। अपनी कशमकश की व्याख्या मुझे दूसरी जगह करनी है। यहाँ सन्क्षेप में इतना कह दूँ कि भारत की जनता के द्वार तक उसकी अपनी भाषाओं में ज्ञान की ज्योति पहुँचाने का व्रत मेरे

जैसे जिन व्यक्तियों ने लिया था, उनके लिए भारत की बागडोर अंग्रेजों के हाथ में रहते जैसे संघर्ष का सामना था, आज की परिस्थिति में भी वैसे ही संघर्ष का सामना है, और उसका कारण यह है कि आज हमारे देश की बागडोर अंग्रेजों के खड़े किये हुए निहित स्वार्थों वाले वर्ग के हाथ में है—ऐसे वर्ग के हाथ में जिसका नेतृत्व और जिसकी विशेषाधिकारों वाली स्थिति अंग्रेजी पद्धति और अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व बने रहने पर निर्भर है, और जो अपने उन स्वार्थों को लाचार हुए बिना नहीं छोड़ेगा। पर हम लोग जो आज तक प्रतिकूल परिस्थितियों में काम करते रहे हैं, आगे भी वैसी परिस्थितियों में अपने कर्त्तव्य पथ से टलने वाले नहीं हैं।

बनारस, माघ संक्रांति २००६ वि०
(१४-१-१९५०)

जयचन्द्र

प्राक्-कथन

श्री जयचन्द्र विद्यालंकार का परिचय देने की विशेष आवश्यकता नहीं। उन्हें उनकी गवेषणाओं ने पर्याप्त रूप में प्रसिद्ध कर दिया है। जिन लोगों ने उनके 'भारतभूमि और उसके निवासी' एवं 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' नामक ग्रन्थों को पढ़ा है, उन्हें तो विदित ही है कि जयचन्द्र जी किस उच्च कोटि के विद्वान् हैं और उनका विमर्श कितना परिपक्व होता है। 'भारतीय वाङ्मय के अमर रत्न' को भी लोग पढ़ चुके हैं। 'द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ' में इसका प्रकाशन पहिले हुआ और इसका पुनःसंस्कार भी हो चुका है। इस सुलेख की उपयोगिता इसी से सिद्ध हो जाती है कि इसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता दीख पड़ी है, और इतने थोड़े समय में। लोगों ने विद्यालंकारजी को सम्मानित किया है, इससे मुझे विशेष आनन्द होता है।

लेखक के मन्तव्यों से यदि कहीं-कहीं मतभेद हो, तो इससे उसके विचारों पर कोई चोट नहीं आती। देखना यह है कि उसके विचार कहाँ तक युक्तिसंगत हैं। प्रत्येक लेखक को अपने तर्क वा विमर्श का पूरा स्वातंत्र्य होता है। जो लेखक अपनी बातों को तर्क से छान कर प्रस्तुत करता है, उसे विद्यानुरागी समाज बड़े चाव से सुनता है। मनु का कथन 'यस्तर्केणानुसंधत्ते' न केवल धर्म से सम्बन्ध रखता है, किन्तु प्रत्येक विमर्श इस पर निर्भर है। 'भारतीय वाङ्मय के अमर रत्न' में भी इसी बात को समक्ष रख के ऊहापोह किया गया है और जयचन्द्रजी ने तदनुसार ही अपने विचार प्रकट किये हैं। अब लोग 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' के अनुयायी नहीं हैं।

वेदों की एवं पुराणों की उत्पत्ति को छोड़ कर विद्यालंकारजी ने जो कुछ इस पुस्तक में लिखा है उसमें प्रायः इतना मतभेद नहीं होगा। उसे धार्मिक संप्रदायों के अनुयायी मान लेने में बहुत खींचातानी नहीं करेंगे, यद्यपि वहाँ भी कहीं-कहीं जयचन्द्र जी का मत विवादशून्य वा सर्वमान्य नहीं कहा जा सकता। वेदों के सम्बन्ध में धार्मिक विचार पृथक् हैं, तार्किक विचार भिन्न हैं। विद्यालंकारजी की वही शैली है, जो पाश्चात्य विद्वानों की है। जिस ढङ्ग से और संक्षेप तथा पूर्णता के साथ विद्यालंकारजी ने हमारे साहित्य की प्रत्येक शाखा को प्रस्तुत किया है, वह अतीव रोचक और सुगम है। इसमें न केवल उक्त साहित्यरत्नों की ही सूचना दी गयी है, जिनसे हम सब पहले से

ही परिचित हैं, अपितु उन अमूल्य ग्रन्थों का भी उल्लेख कर दिया गया है, जिनका अभी ही पता मिला है, जैसे—राहुलजी से आविष्कृत 'विज्ञप्ति-मात्रतासिद्धि' का तथा 'प्रमाणवार्त्तिक' का, ,जिसकी एक प्रति का विद्यालंकारजी को कुछ वर्ष हुए नेपाल में पता मिला था। इस छोटी सी—परन्तु सारगर्भित होने से भारी—पुस्तक के हिन्दी-प्रेमियों के समक्ष फिर से रक्खे जाने पर मुझे हार्दिक प्रसन्नता है। आशा है कि हमारे देश के दिव्य साहित्य के दिग्दर्शन वा सिंहावलोकन के लिए जयचन्द्रजी का प्रयत्न सफल होगा, सब पाठक इसे आनन्द से पढ़ेंगे और इससे पर्याप्त लाभ उठावेंगे।

अमरेली, काठियावाड़
मकर-संक्रान्ति, सं० १९९३

हीरानन्द शास्त्री

ढाँचा

पहला अध्याय

भारत में वाङ्मय का प्रथम विकास

दूसरा अध्याय

संस्कृत प्राकृत वाङ्मय का यौवन काल

तीसरा अध्याय

बृहत्तर भारत का वाङ्मय

भूमिका

हमारे देश की ऊपर से दीखने वाली विविधता के भीतर गहरी एकता है। विविधता उसके बाहरी नाम-रूप में है, एकता उसके विचारों की आन्तरिक प्रवृत्तियों और संस्कृति में। भारतवर्ष की भिन्न-भिन्न लिपियों की तह में जैसे एक ही वर्णमाला है, वैसे ही उस की अनेक भाषाओं के माध्यमों में एक ही वाङ्मय का विकास हुआ है[1]। भारतीय वाङ्मय की वह आन्तरिक एकता भारतवर्ष के विचारों और संस्कृति की एकता की सूचक है। और यद्यपि उस वाङ्मय का आत्मा एक है, तो भी वह इतिहास के परिपाक के अनुसार अनेक भाषाओं, रूपों और परिस्थितियों में प्रकट हुआ है। भारतवर्ष के जीवन और संस्कृति का विकास भारतीय वाङ्मय के उन विभिन्न रूपों के विकास में ठीक-ठीक देखा जा सकता है।

---

१. देखिये *भारतभूमि और उसके निवासी*, § ४५।

उस वाङ्मय का उदय पहले-पहल भारतवर्ष की आर्य भाषाओं में हुआ। एक अरसे बाद द्राविड भाषाओं में भी आर्यावर्त्ती भाषाओं की कलम लगी, और वे भी वाङ्मय से फूलने-फलने लगीं। इधर आर्य भाषाओं में भी एक के बाद दूसरी यौवन पर आती और वाङ्मय का विकास करती रही। और काल बीत जाने पर भारतीय उपनिवेशों और सभ्यता के साथ-साथ भारतीय वाङ्मय की पौद भारतवर्ष के बाहर अनेक देशों में भी जा लगी। पहले तो उन देशों में आर्यावर्त्ती भाषाएँ ही फूली-फलीं, किन्तु पीछे उनके रससिञ्चन से स्थानीय भाषाएँ भी परिष्कृत और साहित्य-पुष्पित होने लगीं। उन भाषाओं के वाङ्मयों का भी बीज या आत्मा आर्यावर्त्ती ही रहा—वह केवल नये रूपों में प्रकट हुआ। इस प्रकार चीन-हिंद या उपरले हिंद (Serindia आधुनिक चीनी तुर्किस्तान या सिम कियाङ [1]) की तुखारी और खोतनदेशी भाषाओं में, पूरबी ईरान की सुग्धी[2] में, नेपाल की नेवारी, तिब्बत की तिब्बती और अंशतः चीनी

---

१. आज कल जिसे हम लोग चीनी तुर्किस्तान और चीनी लोग सिम-कियाङ कहते हैं, उसमें तुर्क जाति पाँचवीं शताब्दी में आई; इसलिए प्राचीन काल में उसे तुर्किस्तान नहीं कहा जा सकता। उन युगों में वह भारतवर्ष का ही एक भाग माना जाता था।

२. वंक्षु (आमू) और सीर नदियों के बीच का दोआब।

में भी, एवं जावा की कवि भाषा आदि में भारतीय वाङ्मय का ही विकास भिन्न-भिन्न रूपों में हुआ।

किन्तु भारतीय मन और मस्तिष्क ने चाहे जिस भाषा में अपने को प्रकट किया उसमें उसने कुछ ऐसे रत्न पैदा किये जो त्रैकालिक और अमर हैं। इन सब रत्नों को एक साथ एक जगह उपस्थित करके देखने से भारतीय वाङ्मय का—और उसके द्वारा भारतीय संस्कृति का—समन्वयात्मक दर्शन बहुत ठीक हो सकता है। और अन्त में उस चयन और संकलन के द्वारा भारतीय वाङ्मय का एक वास्तविक पूर्ण इतिहास लिखा जा सकता है। सच कहें तो भारतवर्ष का एक पूर्ण इतिहास तैयार करने का भी यही उचित मार्ग है। इस समन्वय-दर्शन के काम के लिए भारतवर्ष की वह भाषा सबसे अधिक उपयुक्त होगी जो समस्त भारत में एक सूत्र पिरोने वाली भारत की राष्ट्रभाषा है। किसी समय यह काम संस्कृत करती थी। संस्कृत द्वारा विभिन्न भारतीय जनपदों के वाङ्मयों में विनिमय होता था—संस्कृत के ग्रन्थों का उनमें अनुवाद होता और उनके अच्छे ग्रन्थों का संस्कृत में (जैसे पालि *तिपिटक* का या गुणाढ्य की *बृहत्कथा* का)। आज

जिसमें अब बुखारा समरकन्द की बस्तियाँ हैं, प्राचीन काल में—तुर्कों के आने से पहले—ईरान का ही एक अंश था, और वह सुग्ध या सुग्द् कहलाता था। मुस्लिम युग में उसका नाम मावराउन्नहर रहा। आजकल वह उज़्बकिस्तान का सोवियत गणराज्य है।

यही काम हिन्दी को करना होगा। ऐसा करने से उसकी समन्वय-शक्ति—राष्ट्रभाषापन—भी बहुत बढ़ेगी।

ये विचार हमें एक योजना की तरफ ले जाते हैं। वह योजना यह है कि भारतीय वाङ्मय के प्रत्येक अंश में जो त्रैकालिक मूल्य की अमर रचनाएँ उपस्थित हैं, उन्हें चुन कर, उन में से प्रत्येक का मूल से सीधा प्रामाणिक अनुवाद करा के उन्हें एक माला में संकलित किया जाय। पचीस बरसों में भी यह योजना पूरी हो सके तो सन्तोष की बात होगी। भारतवर्ष के राष्ट्रीय समन्वय के लिए उससे एक बड़े महत्त्व का काम हो जायगा।

यहाँ भारतीय वाङ्मय के विकास-क्रम का बहुत संक्षिप्त दिग्दर्शन किया जायगा, और उस दिग्दर्शन में हमें अपना ध्यान बराबर उसके अमर रत्नों की ओर रखना होगा। उन रत्नों के चयन की योजना का भी उसी के साथ साथ संकेत होता जायगा।

प्रथम अध्याय

भारत में वाङ्मय का प्रथम विकास

१. वेद

न केवल भारतवर्ष प्रत्युत संसार भर में पहले-पहल मनुष्य की प्रतिभा जिन वाङ्मयों के रूप में पुष्पित हुई उनमें प्रमुख हमारा वेद है। वेद आज हमें *संहिताओं* अर्थात् संकलनों के रूप में मिलता है। संहिताएँ महाभारत युद्ध के समकालीन कृष्ण द्वैपायन मुनि ने की थीं, जिस कारण उनका उपनाम वेद-*व्यास*—अर्थात् वेदों का वर्गीकरण करने वाला—हो गया। महाभारत-युद्ध का समय हम अनेक प्रामाणिक विद्वानों का अनुसरण करते हुए १४२४ ई० पू० मान सकते हैं। हमारी प्राचीन अनुश्रुति से पता चलता है कि कृष्ण द्वैपायन पहले संहिताकार न थे; संहिताएँ बनाने का कार्य उनसे प्रायः बीस पीढ़ी—लगभग साढ़े तीन सौ बरस—पहले से (अर्थात् अंदाजन १७७५ ई० पू० से) शुरू हो चुका था। वैदिक वाङ्मय *त्रयी* कहलाता है। उस त्रयी में ऋक्

यजुष् और साम—अर्थात् पद्य गद्य और गीतियों—की संहिताएँ सम्मिलित हैं। वे ऋचाएँ यजुष् और साम संहिता रूप में आने से पहले विभिन्न कवियों के कुलों या शिष्यसन्तान में जमा होती आती थीं। हमें सब से पहले जिन ऋषियों अर्थात् ऋचाकारों के नाम मिलते हैं, वे अनुश्रुति के अनुसार वेदव्यास के प्रायः पैंसठ पीढ़ी पहले हो चुके थे। तब से ले कर संहिता-युग के शुरू होने तक ऋषियों का सिलसिला जारी रहा,—अर्थात् अंदाज़न २४७५ ई० पू० में ऋचाएँ पहले-पहल प्रकट हुईं, तब से अन्दाजन सात सौ बरस तक वे बनती रहीं, उसके बाद उनके संकलन का जमाना आया। 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' नामक अपने ग्रन्थ में मैंने यह मत स्थापित किया है कि महाभारत-युद्ध के प्रायः चार शताब्दी पहले आर्यावर्त्त में लिपि—अर्थात् लिखने की रीति—का आविष्कार हुआ, और उस आविष्कार ने ही उस समय तक के वेद अर्थात् ज्ञान की संहिताएँ बनाने की प्रेरणा जगाई।

वैदिक आर्य बड़े जीवट वाले प्रतिभाशाली प्रक्रमी और रसिक थे। उनके वाङ्मय पर उनके उन सब गुणों की छाप है। नैराश्य की उस में गन्ध भी नहीं। उस में एक अनुपम और सनातन ताज़गी है, जो पढ़ने वाले के जी को हरा कर देती है। हमारी आधुनिक दृष्टि से वेद का सार और निचोड़ तथा वैदिक आर्यों के जीवन और विचारों का एक जीता-जागता चित्र हमारे सामने रखने के लिए दो एक सौ पृष्ठों की एक जिल्द में वेद के चुने अंशों का अनुवाद काफी हो सकता है।

२. उत्तर वैदिक वाङ्मय

अ. ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्

संहिताएँ बनने के बाद आर्यों की विचारधारा कई दिशाओं में बह निकली। आर्य लोग प्रकृति की शक्तियों को दिव्य रूप में देखते और अपने उन देवताओं की तृप्ति के लिए यज्ञ करते थे। वे यज्ञ उनके सामूहिक जीवन की मर्यादा बनाये रखते तथा उनके लिए परस्पर मिलने और ऊँची बातों पर विचार करने के अवसर उपस्थित करते। उनमें ऋचाएँ और साम (गीतियाँ) पढ़ी और गाई जातीं तथा यजुषों का पाठ होता। आर्यों के वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक जीवन के सब संस्कार यज्ञात्मक और यज्ञों पर केन्द्रित थे। पीछे पुरोहितों ने उन यज्ञों का आडम्बर बहुत बढ़ा कर उन्हें जड सा बना दिया। उन यज्ञों की कार्यप्रणाली को दर्ज करने के लिए उन्होंने एक नये वाङ्मय की रचना की जो *ब्राह्मण-ग्रन्थों* के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ज्ञान की खोज में लगे कुछ विचारशील लोगों ने ब्राह्मण ग्रन्थों के कर्मकाण्ड के विरुद्ध पुकार उठाई। संसार के मूल तत्त्वों को टटोलने के उनके उन प्रारम्भिक प्रयत्नों से *आरण्यकों*—अर्थात् जंगल में लिखे गये ग्रन्थों—और *उपनिषदों* का वाङ्मय उत्पन्न हुआ। उपनिषदों में आर्यों का सब से पुराना दार्शनिक चिन्तन अंकित है। सचाई की खोज के लिए उनकी आतुर तड़पन के

अनेक जीवित चित्र उन में पाये जाते हैं । प्रामाणिक अनुवाद द्वारा हम एक ही जिल्द में ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदों के विचारों का दिग्दर्शन पा सकते हैं ।

३. वेदांग

संहिताएँ तैयार होने के साथ-साथ विचार खोज और अध्ययन का एक और सिलसिला भी जाग उठा था । आरम्भिक कविताएँ—ऋचाएँ और साम—सजीव हृदयों के सहज उद्‌गार थीं । अनपढ़ आदमी भी बोलते और बात करते हैं । यदि वे बुद्धिमान हों तो बड़ी सयानी बातें भी करते हैं । यदि उनके मन में कुछ भावों की लहर उठे और यदि उन के अन्दर वह सहज सुरुचि हो जिस से मनुष्य भाषा के सौष्ठव और शब्दों के सुर-ताल का अनुभव करता है तो वे अक्षर पढ़ना जाने बिना भी गा सकते, गीत रच सकते, और कविता कर सकते हैं । आरम्भ के सब कवि ऐसे ही थे । उनकी कविताओं में विचारों और भावों का स्वाभाविक प्रकाश था विद्वत्तापूर्ण बनावटी सौन्दर्य नहीं । ऐसी रचनाएँ जब बहुत हो चुकीं, तब उन्हें बार-बार सुनने से विचारकों का ध्यान उन के सुर-ताल, उन के छन्दों की बनावट, उनकी शब्द-रचना के नियमों और उन शब्दों को बनाने वाले उच्चारणों की तरफ गया । और तब इन विषयों की छानबीन होने पर छन्दःशास्त्र, वर्णमाला और वर्णोच्चारण-शास्त्र तथा व्याकरण आदि की धीरे-धीरे उत्पत्ति हुई । वर्णों के उच्चारण के नियमों को

ही हमारे पुरखा *शिक्षा* कहते। आधुनिक परिभाषा में हम उसे वर्ण-विज्ञान या स्वरविज्ञान (Phonetics) कह सकते हैं। छन्दः-शास्त्र और व्याकरण से पहले वर्ण-विज्ञान का होना आवश्यक है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, उस विज्ञान का उदय महाभारत युद्ध के प्रायः चार सौ बरस पहले हुआ। उस विज्ञान में हमारे पुरखों ने उस प्राचीन युग में आश्चर्य-जनक उन्नति कर ली। अपनी वर्णमाला को उस युग में ही उन्होंने जो वैज्ञानिक पूर्णता दे दी, संसार की और कोई वर्णमाला आज तक उसे नहीं पहुँच पाई। उत्तर वैदिक काल के सर्वप्रथम व्याकरण-ग्रन्थ *प्रातिशाख्य* कहलाते थे। व्याकरण के साथ-साथ *निरुक्त* नामक विज्ञान का उदय हुआ। उसमें शब्दों का निर्वचन किया जाता—अर्थात् मूल धातु से विकास टटोला जाता। यह शास्त्र भी भारतवर्ष के लिए जितना पुराना है, आधुनिक जगत् के लिए उतना ही नया है। उत्तर वैदिक युग के अनेक निरुक्त-ग्रन्थों में से अब केवल यास्क मुनि (अन्दाजन सातवीं शताब्दी ई० पू०) का निरुक्त बचा है। शिक्षा, छंदस्, व्याकरण और निरुक्त—ये चारों वेदांग हैं। चारों ही शब्द-शास्त्र—अर्थात् भाषा-विषयक विज्ञान—के अङ्ग हैं। इनके साथ दो और वेदांगों को गिनने से छः वेदांगों और उत्तर वैदिक वाङ्मय की गिनती पूरी होती थी। उन दो में से एक था *ज्योतिष* और दूसरा *कल्प*। ज्योतिष प्राचीन आर्यों का एकमात्र भौतिक विज्ञान था। वैदिक ज्योतिष का कोई ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। कल्प में आर्यों के व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक अनु-

ष्ठान का समुच्चय था, जो क्रमशः *श्रौत, गृह्य और धर्म* कहलाता। इस प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों के कर्मकांड का सार कल्प-ग्रन्थों में आ गया।

वेदांग ग्रन्थों से हमारे देश में एक अनुपम शैली शुरू हुई। थोड़े से थोड़े शब्दों में अधिक से अधिक विचार भर देना उस शैली का सार है। वह *सूत्र शैली* कहलाती है। वह शैली ही स्वयं बड़ी मनोरंजक है। उपस्थित वेदांग ग्रन्थ व्यक्तियों की रचनाएँ नहीं हैं। उनके कर्त्ताओं के नाम हम नहीं जानते। यही हाल सारे उत्तर वैदिक वाङ्मय का है। वह *शाखाओं* अथवा *चरणों*—अर्थात् सम्प्रदायों—की उपज है। एक-एक शाखा की गुरु-शिष्य-परम्परा में वह उत्तरोत्तर मँजता और सम्पादित होता रहा है। इसी कारण, उपस्थित धर्मसूत्र यद्यपि पाँचवीं से तीसरी शताब्दी ई० पू० तक के हैं, तथापि उनमें कई शताब्दी पहले की सामग्री तथा जीवन का चित्र है।

वेदांग-वाङ्मय का दिग्दर्शन करना हो तो शिक्षा, निरुक्त, छन्दस् और प्रातिशाख्य के लिए एक जिल्द, श्रौत तथा गृह्य सूत्रों के लिए एक जिल्द तथा धर्मसूत्रों के लिए एक जिल्द बस होगी।

---

३. पुराण-इतिहास

आरम्भिक आर्यों के वेद अर्थात् ज्ञान में ऋचों यजुषों और सामों की त्रयी के अतिरिक्त बहुत से *आख्यान उपाख्यान गाथाएँ* और पुराण (पुरानी कहानियाँ) भी सम्मिलित थे। त्रयी देवता-परक, धर्म-परक थी। इन आख्यानों, उपाख्यानों और गाथाओं (गीतमयी कहानियों) में आर्यों के अपने पुरखों की घटनाओं का वृत्तान्त था। त्रयी के ज्ञाता जैसे ऋषि कहलाते, वैसे ही इन आख्यानों आदि के विद्वान् सूत कहलाते। वैदिक समाज में सूतों की बड़ी प्रतिष्ठा थी। कृष्ण द्वैपायन ने जहाँ त्रयी संहिताएँ बनाईं, वहाँ सूतों की कृतियों से पुराण-संहिता भी रची। प्राचीन विद्वान् वेद-संहिताओं का परिसंख्यान यों करते कि "साम ऋक् और यजुर्वेद यह त्रयी है; अथर्ववेद और इतिहास वेद ये कुल (पाँच) वेद हैं।"[१] पहले तीन वेदों में आर्य जनता के ऊँचे दर्जे के लोगों—ऋषियों—के विचार संकलित हैं। अथर्ववेद में जन-साधारण के अभिचार-कृत्या और जादू-टोना-विषयक विश्वासों का भी समावेश हुआ है। हमें अथर्व से यहाँ मतलब नहीं, क्योंकि अब उसकी गिनती वेदों में ही होती है। वेदव्यास ने महाभारत युद्ध तक के आख्यानों उपाख्यानों आदि का संकलन पुराणसंहिता में कर दिया।

---

१. कौटिलीय अर्थशास्त्र १. ३.।

बाद की घटनाओं के भी वृत्तान्त लिखे जाते रहे। किन्तु पिछले सूतों ने उन्हें एक विचित्र शैली में कहा। उन्होंने वेदव्यास के मुँह से ही अपने समय का वृत्तान्त इस प्रकार कहलाया मानो वे भविष्य की बात कर रहे हों। एक *भविष्यत् पुराण* बनता गया, जिसका उल्लेख हम पाँचवीं शताब्दी ई० पू० के आपस्तम्ब धर्मसूत्र में पाते हैं। भविष्यत् और पुराण—ये परस्पर विरोधी शब्द हैं। *पुराण* का विशेषण *भविष्य* होने से सूचित है कि पुराण शब्द का मूल अर्थ तब तक भूला जा चुका था और वह योगरूढ़ हो कर एक विशेष प्रकार के वाङ्मय के लिए प्रसिद्ध हो चुका था। इसी से सिद्ध है कि पाँचवीं शताब्दी ई० पू० से पहले पुराण उपस्थित थे। *भविष्य* में गुप्त साम्राज्य के उदय तक की घटनाओं का वृत्तान्त जुड़ता रहा। वहाँ आ कर पौराणिक इतिहास समाप्त हो जाता है। पीछे दूसरे पुराणों ने भी भविष्य वृत्तान्त ले लिया।

पुराण शुरू में पंचलक्षण था—उसमें केवल पाँच विषय थे। किन्तु प्राचीन काल के बाद पुराण-ग्रन्थों में उनके मुख्य विषयों के अतिरिक्त बहुत से दूसरे विषय भी भर दिये गये। उनकी कहानियों के पुराने नायकों के मुँह में बहुत-से उपदेश भर कर पुराणों को धर्म-परक ग्रन्थ बना दिया गया। पुराणों के साथ छेड़छाड़ इतनी अधिक हुई है कि उनकी अनेक सतहों को अलग-अलग करना भी अब कठिन काम हो गया है। तो भी आधुनिक खोज ने वैसी बारीक छानबीन के तरीके निकाल लिये

हैं । पहले-पहल स्वर्गीय अंग्रेज़ विद्वान पार्जीटर ने सब पुराणों से कलियुग-वंशावलियों का वर्णन करने वाले सन्दर्भ निकाल कर उनके तुलनात्मक अध्ययन से उनका मूल प्रामाणिक पाठ तैयार करने की चेष्टा की। फिर जर्मन विद्वान किर्फ़ेल ने पुराणों के पंचलक्षण अंश को अलग निकाल कर उसी तरह सम्पादन किया। इस ढंग से पुराण के भिन्न भिन्न स्तरों को अलग-अलग करके सम्पादन करने में ही लाभ है। और वैसा करने से शायद चार पाँच जिल्दों में पौराणिक वाङ्मय का निष्कर्ष आ सके। *रामायण* और *महाभारत* का मूल काव्य-रूप भी पहले-पहल अन्दाज़न पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में लिखा गया। वह कथा-अंश पुराण-इतिहास-वाङ्मय का ही भाग है, यद्यपि अब तो महाभारत एक विश्वकोष बन चुका है। उस अंश का सम्पादन भी पुराण-इतिहास-वाङ्मय के सिलसिले में ही होना चाहिए।

४. आरम्भिक संस्कृत वाङ्मय

वेद से वेदांगों का उदय होने में कई नई विद्याओं का जन्म हुआ था। पीछे और परिपक्क होने पर वे स्वतन्त्र विद्याएँ बन गईं, वेद का अंग-मात्र न रहीं। इस प्रकार व्याकरण का उदय एक वेदांग रूप में हुआ था, पर पाणिनि के व्याकरण को हम वेदांग में नहीं गिनते। पाणिनि का समय पाँचवीं शताब्दी ई० पू० माना जाता है। बोधायन और आपस्तम्ब के शुल्व-सूत्रों

की भी, जिनमें रेखागणित की आरम्भिक नींव है, यहीं गिनती की जानी चाहिए।

उस समय तक आर्यों के आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक जीवन में बड़े-बड़े परिवर्तन हो चुके थे। वैदिक आर्यों के राज्य जनों अर्थात् कबीलों के थे। उत्तर वैदिक युग (१४००-७०० ई० पू०) में जनपदों—अर्थात् देशों—का उदय हुआ, और जानपद राज्य होने लगे। उसके बाद कई-कई जनपदों के एक में मिलने से महाजनपदों की सृष्टि हुई। सातवीं-छठी शताब्दी ई० पू० में महाजनपदों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता से अन्त में मगध का पहला साम्राज्य खड़ा हुआ, जो पाँचवीं और चौथी शताब्दी ई० पू० में बना रहा। मगध के उस पहले साम्राज्य के युग को हम पूर्वनन्द युग कहते हैं, क्योंकि उस साम्राज्य के संस्थापक पहले नन्द राजा थे। वैदिक युग में आर्य लोग उत्तर भारत में थे; उत्तर वैदिक में वे गोदावरी-काँठे तक बढ़े। महाजनपद-युग में वे ताम्रपर्णी (लंका) तक आने-जाने लगे, और पूर्व-नन्द-युग में पांड्य देश[1] और सिंहल (लंका) में उनके उपनिवेश स्थापित हो कर सारे भारत का आर्यीकरण पूरा हुआ। वैदिक समाज कृषकों और पशुपालकों का था; पर महाजनपद और पूर्व नन्द युगों में शिल्प का खूब विकास हुआ, शिल्पियों की श्रेणियाँ और

---

१. आधुनिक मदुरा और तिरुनेवली ज़िले जो भारत की दक्खिनी नोक में हैं।

वणिजों के *निगम* बने, वाणिज्य के कारण नगरियों का उदय हुआ, और उन नगरियों का प्रबन्ध करने वाली संस्थाएँ—पूग—उठ खड़ी हुईं। आर्थिक और राजनीतिक जीवन के इस प्रकार परिपक्व होने, और उनमें उक्त अनेक प्रकार के *निकाय* (सामूहिक संस्थाएँ) पैदा हो जाने से, उनके पारस्परिक सम्बन्ध लेन-देन और अधिकार नियत करने के लिए *व्यवहार* (कानून) नाम की एक नई वस्तु पैदा हो गई। धर्म और व्यवहार दोनों इस युग की उपज थे—धर्म आनुष्ठानिक जीवन के कानून थे और व्यवहार लौकिक जीवन के। धर्म धर्मशास्त्र[1] का विषय था, और व्यवहार अर्थशास्त्र का। *अर्थ* या *अर्थशास्त्र* नाम का यह नया वाङ्मय सातवीं-छठी शताब्दी ई० पू० से पैदा होने लगा; उसका उल्लेख पालि जातकों में, जिनकी चर्चा आगे की गई है, मिलता है।

इस प्रकार महाजनपद और पूर्व नन्द-युग में जहाँ पुराने वेदांग के विषय स्वतंत्र शास्त्र बने, वहाँ नये शास्त्रों का उदय भी हुआ। पाणिनि की अष्टाध्यायी (४. ३. ११०) से सूचित होता

---

१. धर्मसूत्रों को ही धर्मशास्त्र कहते थे। धर्मशास्त्र और धर्म-सूत्र में अन्तर है, और धर्मशास्त्र शब्द केवल बाद की स्मृतियों के लिए बर्ता जाता था, इस प्रचलित विचार का पूरा खण्डन जायसवाल जी ने अपने ग्रन्थ *मनु और याज्ञवल्क्य* (कलकत्ता युनिवर्सिटी के १९१७ के टागोर व्याख्यान, १९३० में प्रकाशित) में किया है।

है कि उससे पहले किसी किस्म का एक नटसूत्र—अर्थात् नाट्य-शास्त्र—भी था। उसकी गिनती धर्म और अर्थ के अतिरिक्त *काम* अर्थात् ललित-कला-विषयक ग्रन्थों में करनी चाहिए। उपनिषदों से सूचित होता है कि खास कामशास्त्र-विषयक विचार श्वेतकेतु के समय—उत्तर वैदिक युग—से ही शुरू हो चुका था। किन्तु तब तक वह एक गौण विषय था, क्योंकि कौटिल्य अपने समय की विद्याओं का परिसंख्यान *आन्वीक्षिकी*, *त्रयी*, *वार्त्ता* और *दंडनीति* इन चार विभागों में ही करता है, और इतिहास-पुराण को वह त्रयी के परिशिष्ट रूप में गिनता है। वार्त्ता और दण्ड-नीति अर्थशास्त्र में सम्मिलित थे, त्रयी में सब वेद-वेदांग और वेदांगों के विकास से बने हुए विज्ञान भी गिने जाते थे।

बाकी रही आन्वीक्षिकी। वह उस समय का आरम्भिक दर्शनशास्त्र था। कौटिल्य के समय तक केवल तीन किस्म की *आन्वीक्षिकी* थी—*सांख्य*, *योग* और *लोकायत*। षड् दर्शन तब तक पैदा न हुए थे। उस आरम्भिक आन्वीक्षिकी का कोई ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। किन्तु उपनिषदों के आगे पूर्व नन्द-युग तक भारतीय दार्शनिक चिन्तन का विकास कैसे हुआ, उसे समझने के लिए हमारे पास एक कीमती ग्रन्थ है; और वह है *भगवद्गीता*। भगवद्गीता को कई विद्वान् शुंग-युग (१८८—७५ ई० पू०) का और कई उसके भी बाद का मानना चाहते हैं। स्वर्गीय सर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर का मत था कि वह पाँचवीं शताब्दी ई० पू०—पूर्व-नन्द-युग—की रचना है।

हमने देखा कि पुराण-इतिहास-वाङ्मय का बड़ा अंश महाजनपद और पूर्व-नन्द-युग में सम्पादित हुआ। वाल्मीकि-रामायण तभी के समाज को चित्रित करती है। फिर बहुत से वेदांग—धर्मसूत्र आदि—तभी के हैं। हम देखेंगे कि पालि वाङ्मय की सबसे कीमती रचनाएँ भी उसी युग में पैदा हुईं। उनके अतिरिक्त शास्त्रीय संस्कृत के उस आरम्भिक वाङ्मय की—जो वैदिक वाङ्मय को पिछले संस्कृत वाङ्मय से जोड़ता है—तीन अमर रचनाएँ इसी युग की उपज हैं। वे तीन रचनाएँ हैं—पाणिनि की अष्टाध्यायी, भगवद्गीता तथा कौटिलीय अर्थ-शास्त्र। पाणिनि की अष्टाध्यायी विश्व-वाङ्मय का एक अद्भुत रत्न है। उसके मूलमात्र का अविकल अनुवाद शायद आधुनिक पाठकों की समझ में न आय, इसलिए काशिका-वृत्ति के साथ उसका अनुवाद करना होगा और उसकी पद्धति को भी आधुनिक दृष्टि से स्पष्ट करना होगा। दो जिल्दों में वह काम हो सकेगा।

भगवद्गीता के महत्त्व के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। उस जैसे अमर रत्न विश्व के वाङ्मय में बहुत कम हैं। शिक्षाओं की उच्चता में, त्रैकालिक सनातन सचाइयों का प्रकाश करने में और तेजस्वी सुर में वह अपना सानी नहीं रखती। उसके क्रान्तदर्शी लेखक ने अपना नाम न बता कर बड़े मौजूँ ढंग से कृष्ण वासुदेव के मुँह से कुरुक्षेत्र की युद्धस्थली में अपने उपदेशों को कहला दिया है। आधुनिक युग का कोई लेखक गुरु गोविन्द-सिंह के मुँह से बन्दा वैरागी को वैसा ही उपदेश दिला सकता था।

भगवद्गीता यदि प्राचीन आर्यों के त्याग के आदर्शों को हमारे सामने रखती है तो कौटिल्य का अर्थशास्त्र उनके व्यावहारिक जीवन और आदर्शों को खोल देता है। इस पहलू में वह भी अनोखा है। आयोजित राष्ट्रीय अर्थनीति का विश्व के वाङ्मय में पहले पहल प्रतिपादन उसी ग्रन्थ में हुआ है। उसकी लहू और लोहे की नीति में तथा एक ऊँचे उद्देश्य (भारतीय साम्राज्य की स्थापना) की पूर्त्ति के लिए कोई भी उपाय बर्तने की तत्परता में ऊँची दृढता निष्ठा और आदर्श साधना की छाप है। सचमुच उसमें उस दृढव्रती ब्राह्मण के कभी न डगमगाने वाले गम्भीर हृदय की झलक है जो पैरों को चुभने वाले डंठलों को उखाड़कर उनकी जड़ों में मट्ठा सींचता था।

महाजनपद और पूर्व-नन्द युग कैसे गहरे विचारों और मौलिक रचनाओं के युग थे, सो ऊपर की विवेचना से प्रकट है। उन युगों के विचार और ज्ञान का केन्द्र और स्रोत तक्षशिला का गुरुकुल था, जहाँ *तीन वेद* और *अठारह विद्यास्थान* पढ़ाये जाते थे। वहाँ के *दिशाप्रमुख* (जगत्प्रसिद्ध, "अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के") पंजाबी आचार्यों के चरणों में बैठे बिना उस युग में कोई आदमी शिक्षित न कहला सकता था। कुरु-पञ्चाल,[1] काशी

१. कुरु = आजकल का कुरुक्षेत्र, दिल्ली-मेरठ का प्रदेश; पञ्चाल = आधुनिक रुहेलखण्ड और फर्रुखाबाद-कन्नौज का इलाका; कोशल = अवध; मगध = दक्खिन बिहार; विदेह = तिरहुत, उत्तरी बिहार।

कोशल, मगध और विदेह से दल के दल नवयुवक—गरीब-अमीर, राजाओं और रङ्कों के पुत्र—तक्षशिला में पढ़ने को आ जुटते और वहाँ से लौट कर अपने देशों में बड़ा आदर पाते। वहाँ पढ़ाये जाने वाले अठारह *विद्यास्थानों* में विशेष कर आयुर्वेद की बड़ी प्रसिद्धि थी। दुर्भाग्य से तक्षशिला के आत्रेय आचार्यों का आरम्भिक आयुर्वेद-विषयक कोई ग्रन्थ आज उपलभ्य नहीं है। आचार्य पाणिनि तक्षशिला के पड़ोसी थे, कौटिल्य वहीं के थे, सम्भव है कि भगवद्गीता भी वहीं प्रकट हुई हो।

५. पालि तिपिटक

तक्षशिला के उस गौरव के युग में ही विश्व इतिहास के उस महापुरुष ने आर्यावर्त्त में जन्म लिया जिसका नाम आज भी आधी दुनिया प्रतिदिन जपती है। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के ठीक बाद पाँच सौ भिक्खु मगध की राजधानी राजगृह में इकट्ठे हुए, और उन्होंने उनकी शिक्षाओं का गान किया। वह पहली *संगीति* थी। सौ बरस बाद वैशाली[1] में दूसरी सङ्गीति हुई। फिर तीसरी सङ्गीति अशोक के समय हुई। इन्हीं सङ्गीतियों में बौद्धों का धार्मिक वाङ्मय तैयार हुआ। पहली सङ्गीति के समय उस वाङ्मय के दो अंश थे—एक *विनय*, दूसरा *धम्म*।

---

१. मुजफ्फरपुर जिले में आधुनिक बसाढ़।

विनय अर्थात् भिक्खु-भिक्खुनियों के आचरण-विषयक नियम; *धम्म* अर्थात् धर्म-विषयक शिक्षाएँ। इन दोनों में प्रायः बुद्ध के अपने उपदेश थे। कौन-सा उपदेश बुद्ध ने कब कहाँ किन अवस्थाओं में दिया, यह उपक्रमणिका भी प्रत्येक उपदेश के साथ दर्ज है। उनके धम्म-विषयक उपदेश सुत्त—अर्थात् सूक्त—कहलाते हैं। वे सब प्रायः संवाद-रूप में हैं। वे पाँच *निकायों*—अर्थात् समूहों या वर्गों—में बँटे हैं। उन संवादों में संसार की श्रेष्ठ सदाचार-शिक्षा अत्यन्त सरल और सीधे शब्दों में सुनाई देती है। संसार के प्रमुख आचारात्मक धर्म का सार उनमें निहित है। *खुद्दकनिकाय* के अन्तर्गत *धम्मपद* और *सुत्तनिपात* मानो बौद्धों के गीता और उपनिषद् हैं। उसी निकाय का एक अंश *उदान*—अर्थात् बुद्ध की उद्गारमयी उक्तियाँ—भी है। शिक्षा की उच्चता, सदाचार के आदर्शों, शैली की सरलता और सीधे-पन में निकायों का मुकाबला नहीं किया जा सकता।

अशोक के समय तक बौद्ध वाङ्मय तिपिटक रूप में आ गया, और तीसरी संगीति के शीघ्र बाद वह अपने अन्तिम रूप को पहुँच गया। तिपिटक में *विनय पिटक*, सुत्त-*पिटक* और *अभि-धम्म-पिटक* शामिल हैं। पुराना विनय विनय-पिटक में और धम्म सुत्त-पिटक में आ गया; अभिधम्म पिटक पीछे की रचना है जो बौद्धों के आरम्भिक दार्शनिक चिन्तनों को सूचित करती है और जिस पर बाद का सारा बौद्ध दर्शन उसी प्रकार निर्भर है जैसे वेदान्त-दर्शन उपनिषदों पर। विनय के भी सब उपदेश ऐति-

हासिक उपक्रमणिका के साथ—'ऐसा मैंने सुना है, एक बार भगवान्....तत्र...' इस शैली में—कहे गये हैं; इसी कारण बुद्ध की जीवनी का सबसे पुराना वृत्तान्त होने से उनका महत्त्व है।

सुत्त-पिटक के खुद्दकनिकाय में *थेरगाथा*, *थेरीगाथा*, *अपदान* (थेर-अपदान थेरी-अपदान) तथा *जातकत्थवण्णना* भी सम्मिलित हैं। अपदान का संस्कृत रूप है *अवदान*, और उसका अर्थ है शिक्षाप्रद ऐतिहासिक वृत्तान्त। अपदान में बौद्ध धर्म के आरंभिक थेर-थेरियों के पूर्व जन्म और इस जन्म के वृत्तान्त हैं, थेरगाथा और थेरीगाथा में उनकी गीतियाँ या वाणियाँ। उन चरितों और वाणियों में बहुत से मनोरंजक अंश हैं; उन प्राचीन महिला सुधारिकाओं के चरित और गीत विशेष रुचिकर हैं। *जातक* कहानियाँ हैं, जो बुद्ध से पहले—महाजनपद-युग की हैं, और जिन्हें बुद्ध के जीवन से जोड़ कर तिपिटक में रख दिया गया है। बुद्ध के जीवन में कोई घटना घटती है, जिससे उन्हें अपने किसी पूर्व जन्म की कोई घटना याद आ जाती है। वे उस घटना को सुनाते हैं, और अन्त में उस पूर्व-जन्म की घटना में कौन बोधिसत्त्व था और कौन क्या था, सो *समोधान* करते हैं। तथा-कथित पूर्व-जन्म की घटना जातक का *अतीतवत्थु*—अर्थात् असल कहानी-भाग—है, जो बुद्ध से पहले का है। उसका सार दो-एक *पालियों*—अर्थात् पद्यों—में कहा होता है। ये पालियाँ अत्यन्त पुरानी हैं। ये साढ़े पाँच सौ के करीब

जातक विश्व के वाङ्मय में जन साधारण की सबसे पुरानी कहानियाँ हैं। मनोरंजकता, सुरुचि, सरलता, आडम्बर-हीन सौन्दर्य और शिक्षाप्रदता में उनका मुकाबला नहीं हो सकता। वे बच्चों के लिए भी सरल और आकर्षक, जवानों और बूढ़ों के लिए भी रुचिकर, और विद्वानों के लिए प्राचीन भारत के जीवन का जीता-जागता चित्रण करने के कारण अत्यन्त मूल्यवान हैं। उनका सीधापन और हलका व्यंग्य लाजवाब है।

तिपिटक वाङ्मय का अनुवाद द्वारा दिग्दर्शन करना हो तो तीन-चार जिल्दों में वह हो सकना चाहिये। जातकों की गिनती उन जिल्दों में नहीं की गई, क्योंकि उनका अलग अविकल अनुवाद पाँच छः जिल्दों में होना चाहिए।

दूसरा अध्याय

संस्कृत प्राकृत वाङ्मय का यौवनकाल

भारतवर्ष के राजनीतिक इतिहास में आरम्भिक आर्यों के युग के बाद महाजनपदों का युग आया, फिर नन्द-मौर्य-साम्राज्य का युग। वह साम्राज्य-युग पाँचवीं से तीसरी शताब्दी ई० पू० तक रहा। मौर्य युग में बौद्ध जैन धर्मों का बड़ा प्रचार हुआ। उसके बाद भारी प्रतिक्रिया हुई पुराने वैदिक आदर्शों और जीवन को फिर से उठाने की। उसकी एक अत्यन्त सारगर्भ अभिव्यक्ति थी *अश्वमेध का पुनराहरण*। दूसरी शताब्दी ई० पू० के आरम्भ में दक्खिन में सातवाहन और उत्तर में शुङ्ग राजाओं ने चिरकाल से लुप्त अश्वमेध-यज्ञ फिर से किये। उत्तर भारत में शकों तुखारों के हमले होने से जब सातवाहनों का गौरव मन्द पड़ गया (७८—१५० ई०), तब भारशिव, वाकाटक और गुप्त राजाओं ने फिर उसी अश्वमेध के आदर्श को जगाया और जीवित रक्खा। सातवाहनों के उदय से गुप्त साम्राज्य के अन्त तक (२१० ई० पू०—५३३ ई०) सारा अश्वमेध-पुनराहरण युग है। उसके दो स्पष्ट भाग हैं—पहला सातवाहन या साळवाहन-युग (२१० ई० पू०—१७६ ई०), दूसरा भारशिव-वाकाटक-गुप्त-युग (१७६—५३३ ई०)। गुप्त युग के साथ प्राचीन

काल का अन्त होता है; आगे मध्य काल है। नंद-मौर्य साम्राज्य-युग के एक तरफ जैसे आरम्भिक आर्य-युग और महाजनपद-युग हैं, वैसे ही दूसरी तरफ सातवाहन-युग और गुप्त-युग। वह प्राचीन भारत के राजनीतिक इतिहास के ठीक बीच में पड़ता है। संस्कृति और वाङ्मय के इतिहास में भी उसकी ठीक वही स्थिति है। उसमें उत्तर वैदिक वाङ्मय का अन्त होता है, और शास्त्रीय संस्कृत वाङ्मय का आरम्भ। संस्कृत वाङ्मय का सिलसिला यों तो मध्य काल में भी जारी रहा, पर उसके उत्कर्ष-मय जीवन का असल समय सातवाहन और गुप्त युग ही हैं।

पूर्व नन्दों, नव नन्दों और मौर्य सम्राटों के समय उत्तर वैदिक वाङ्मय अपनी अंतिम सीमा पर पहुँचा, पुराण-इतिहास-वाङ्मय का परिपाक हुआ, तिपिटक वाङ्मय का उदय और विकास हुआ, और एक स्वतन्त्र वाङ्मय की धारा चली जिसमें आन्वीक्षिकी, अर्थशास्त्र (वार्त्ता, दंडनीति) और अन्य *विद्यास्थान* सम्मिलित थे। ये सब धाराएँ आगे चल कर अनेकमुखी हो गईं। वही संस्कृत और प्राकृत वाङ्मय है। उसका कई अंशों में अलग-अलग दिग्दर्शन करने में सुविधा होगी।

१. दर्शन

उपनिषदों में तत्त्वचिन्तन की आरम्भिक उड़ानें हैं, दर्शनों में हमें पहले-पहल शृङ्खलाबद्ध तत्त्वचिन्तन मिलता है। उनमें से सांख्य और योग में विश्व के विकास की व्याख्या है, वैशेषिक

और न्याय की मुख्य देन तार्किक या वैज्ञानिक प्रक्रिया है, वेदांत मीमांसा बौद्ध जैन और चार्वाक दर्शनों के आलोचनात्मक अंश अधिक मूल्यवान् हैं।

कौटिल्य के समय तक केवल तीन दर्शन थे—सांख्य योग और लोकायत (चार्वाक)। सांख्य के प्रवर्त्तक कपिल को हमारे देश में *आदि-विद्वान्*—अर्थात् पहला दार्शनिक—कहते हैं, अनुश्रुति के अनुसार उनका समय भारत-युद्ध के कुछ बाद है। गीता में भी सांख्य का नाम है। किन्तु गीता के सांख्य में और आजकल की उपलब्ध सांख्य-पद्धति में बड़ा अन्तर है। उस पद्धति का विकास बहुत धीरे-धीरे हुआ दीखता है। आजकल जो सांख्य-कारिकाएँ मिलती हैं उनके कर्त्ता ईश्वरकृष्ण बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु के समकालीन—अर्थात् पाँचवीं शताब्दी ई० के—हैं। पञ्चशिख और वर्षगण्य उस पद्धति के प्राचीन लेखक थे, और षष्ठितंत्र भी उसी पद्धति की रचना थी। उन तीनों के उद्धरण पातञ्जल योगदर्शन के व्यासभाष्य में हैं, पर ईश्वरकृष्ण का उसमें संकेत भी नहीं है। व्यासभाष्य में दशगुणोत्तर गणना[1] का ज्ञान पाया जाता है, जिसके तीसरी शताब्दी ई० से पहले रहने का

---

१. दशगुणोत्तर गणना का यह अर्थ है कि इकाई के आगे शून्य लगा कर दहाई बनाना, इत्यादि। ६०० ई० तक के अभिलेखों में इकाइयों की तरह दहाइयों सैकड़ों आदि के भी अलग चिह्न पाये जाते हैं।

कोई पता नहीं मिलता। इसलिए व्यासभाष्य का समय ईश्वर-कृष्ण से पहले—अन्दाजन चौथी शताब्दी ई०—है; और षष्ठितंत्र आदि सांख्य ग्रन्थ उससे और पहले के हैं। यदि षष्ठितंत्र का समय अन्दाजन दूसरी तीसरी शताब्दी ई० हो तो विद्यमान सांख्य-पद्धति का कोई और ग्रन्थ उससे पहले भी था; क्योंकि चरक के सृष्टि-विषयक सब विचार आधुनिक सांख्य-पद्धति के हैं, और चरक कनिष्क (७८ ई०) की सभा में थे। इस प्रकार आधुनिक सांख्य-पद्धति ईसा से पहले परिपक्व हो चुकी थी। चरक की युक्तिप्रक्रिया न्याय-वैशेषिक तर्कशास्त्र की है, इस कारण वे दर्शन भी उनसे पहले उपस्थित थे। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन दिङ्नाग से पहले के—इसलिए अन्दाजन तीसरी शताब्दी ई० के—हैं। वैशेषिक का प्रशस्तपाद-भाष्य भी यदि उससे पहले का नहीं तो पीछे का भी नहीं है। इस दशा में न्यायसूत्रकार अक्षपाद गौतम और वैशेषिक-सूत्रकार कणाद काश्यप ईसा से कुछ पहले के हैं; क्योंकि चरक के समय तक उनकी पद्धति सुस्थापित हो चुकी थी।

यह युक्तिपरम्परा डा० व्रजेन्द्रनाथ शील की है। दूसरी तरफ जर्मन विद्वान् याकोबी का कहना है कि न्याय और वैशेषिक दर्शन नागार्जुन के चलाये हुए बौद्ध शून्यवाद के बाद के हैं, क्योंकि उनमें उसका प्रत्याख्यान करने का यत्न किया गया है; और वे बौद्ध योगाचार दर्शन से अवश्य पहले के हैं, क्योंकि उनमें योगाचार की तरफ कहीं संकेत भी नहीं है। नागार्जुन

आचार्य अश्वघोष के उत्तराधिकारी के उत्तराधिकारी थे, और अश्वघोष कनिष्क के समकालीन थे। इसलिए नागार्जुन का समय लगभग १५० ई० है। योगाचार के प्रवर्त्तक मैत्रेय आचार्य वसुबन्धु से पहले चौथी शताब्दी ई० में हुए। इस प्रकार याकोबी के मत से न्याय और वैशेषिक २०० और ४०० ई० के बीच के हैं। योगदर्शन उनके मत में योगाचार के बाद का है। किन्तु उस दशा में न्याय-वैशेषिक पद्धति चरक से पहले कैसे थी? और योगदर्शन का व्यासभाष्य ईश्वरकृष्ण से पहले कैसे? याकोबी और डा० शील की स्थापनाओं में सामञ्जस्य करने का एकमात्र उपाय यह है कि या तो नागार्जुन से पहले शून्यवाद का किसी और रूप में रहना माना जाय, या चरक से पहले न्याय-वैशेषिक का। इसी प्रकार चौथी शताब्दी ई० से पहले योगाचार-दर्शन का किसी और रूप में रहना माना जाय।

मीमांसा और वेदान्त दर्शनों को पूर्व-मीमांसा और उत्तर-मीमांसा भी कहा जाता है। पूर्व मीमांसा स्पष्टतः पहले की है। पूर्व मीमांसा के कर्त्ता जैमिनि कहे जाते हैं तथा वेदान्त के व्यास बादरायण। किन्तु वे दोनों एक दूसरे को उद्धृत करते हैं। सच बात यह है कि विद्यमान रूप में दोनों ग्रन्थ एक एक आचार्य की कृति नहीं, प्रत्युत सम्प्रदायों की उपज हैं,—उन दोनों आचार्यों की शिष्य सन्तानों में उनका संस्करण सम्पादन होता रहा है। याकोबी के मत से विद्यमान रूप में वे दोनों भी शून्यवाद के पीछे और योगाचार से पहले के हैं।

इस प्रकार विद्यमान छहों दर्शन कौटिल्य के बाद—पिछले मौर्य युग या सातवाहन युग—की उपज हैं। उपनिषदों, भगवद्-गीता और अभिधम्म में दार्शनिक चिन्तन की पहली अस्फुट-मार्गी उड़ानें थीं। शुरू-शुरू के बौद्ध जैन और लोकायत विचारकों ने जब प्राचीन विचार की रूढियों पर खरी-खरी और सीधी-सीधी चोटें की तब विचारों की उस खलबली में शृंखला-बद्ध दार्शनिक विचार पैदा हुआ और हमारे दर्शनों ने जन्म लिया। शुरू-शुरू में सब दर्शन उत्तर वैदिक वाङ्मय की सूत्र-शैली में लिखे गये, इसी से सूचित है कि वे पिछले मौर्य-युग या सातवाहन-युग के बाद की रचनाएँ नहीं हैं।

दर्शनों के क्रमविकास की विवेचना में बादरायण और शङ्कर के वेदान्त का भेद विशेष उल्लेखयोग्य है। बादरायण का वेदान्त परिणामवादात्मक है—उसके अनुसार सृष्टि ब्रह्म का परिणाम है, अर्थात् ब्रह्म सृष्टि का उपादान कारण है। दूसरी तरफ शंकर के वेदान्त का सार विवर्त्तवाद—अर्थात् सृष्टि को ब्रह्म की वास्तविक नहीं प्रत्युत काल्पनिक परिणति मानना—है। बादरायण से शंकर तक विचारों के विकास की कुञ्जी बौद्ध दर्शन से मिलती है। नागार्जुन के बाद बौद्धमार्गी दर्शन में योगाचार के प्रवर्त्तक मैत्रेय, महायान के अन्तिम आचार्य आसंग और वसुबन्धु, तथा धर्मकीर्त्ति और शान्तरक्षित के नाम विशेष उल्लेखयोग्य हैं। आसंग और वसुबन्धु दोनों भाई पेशावर के थे। उनके मूल ग्रन्थ अब नहीं मिलते, उनके चीनी अनुवाद हैं।

जापान के प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ और चीनी तिपिटक के सम्पादक डा० ताकाकुसु ने वसुबन्धु का समय लगभग ४२०—५०० ई० निश्चित किया था। शंकर पर वसुबन्धु का बड़ा प्रभाव हुआ। शंकर के ब्रह्मसूत्र-शांकर-भाष्य में आज हम भारतवर्ष के दार्शनिक चिन्तन की जो ऊँची उड़ान देखते हैं, उसका श्रेय बहुत कुछ वसुबन्धु को है। उसके ग्रन्थ *त्रिंशिका* पर कई विद्वानों का मिल कर किया हुआ *विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि* नाम का एक भाष्य था, जिसका चीनी अनुवाद सम्राट् हर्षवर्धन के समकालीन प्रसिद्ध चीनी यात्री य्वान च्वाङ ने किया था। एक चीनी विद्वान् के सहयोग से श्री राहुल सांकृत्यायन ने उस अनुवाद से मूल संस्कृत ग्रन्थ का उद्धार किया है। वसुबन्धु के दूसरे ग्रन्थ *अभिधर्मकोशकारिका* एवं धर्मकीर्त्ति के *प्रमाणवार्त्तिक* की मूल प्रतियाँ भी वे तिब्बत के मठों से खोज लाये हैं। धर्मकीर्त्ति का समय सातवीं शताब्दी और शान्तरक्षित तथा शंकर का आठवीं शताब्दी ई० है।

हम अपने दर्शनों के तत्त्व को ऐतिहासिक दृष्टि से उनका क्रमविकास देखे विना नहीं पा सकते यह बात हमें खूब समझ लेनी चाहिए। बादरायण से शंकर के विचारों तक हम कैसे पहुँचते हैं, इसका उदाहरण ऊपर दिया गया है। न्याय-दर्शन का क्रमविकास भी बौद्ध दर्शन के साथ जुड़ा हुआ है। वात्स्यायन-भाष्य अनेक आरम्भिक बौद्ध स्थापनाओं का प्रत्याख्यान करता है। उसके उत्तर में दिङ्नाग ने *प्रमाणसमुच्चय*

लिखा; तब उद्योतकर ने उसके उत्तर में वात्स्यायन-भाष्य पर न्यायवार्तिक लिखा। न्यायवार्तिक का उत्तर धर्मकीर्त्ति ने *प्रमाणवार्त्तिक* [1] लिख कर दिया; तब उसके उत्तर में वाचस्पति मिश्र की *तात्पर्यटीका* आई। इस परम्परा को देखे बिना और प्रत्येक लेखक की परिस्थिति पर ध्यान दिये बिना हम उसके ठीक अभिप्राय को कैसे जान सकते हैं? वसुबन्धु को अपने युग में प्रचलित दार्शनिक चिन्तन में बड़ी घिचपिच दिखाई देती और उससे बड़ी खीझ होती थी। *अभिधर्मकोशकारिका* का उपसंहार करते हुए उन्होंने लिखा है—

इति दिङ्मात्रमेवेदमुपदिष्टं सुमेधसाम्।
व्रणादेशो विषस्येव स्वसामर्थ्यविसर्पणः॥

"यह मैंने मेधावियों के लिए दिशा मात्र बताई है, जो अपने

---

१. मूल प्रमाणवार्तिक हाल तक न मिलता था, उसका तिब्बती अनुवाद था। मेरे मित्र राहुलजी तिब्बती संस्कृत तैयार कर रहे थे, किन्तु फरवरी १९३२ में नेपाल जाने पर मुझे मालूम हुआ कि वहाँ प्रमाणवार्त्तिक की एक प्रति मिल गई है। राहुलजी उसकी खातिर नेपाल गये, पर वह प्रति अधूरी निकली। सन् १९३६ में वे फिर उसी के लिए तिब्बत गये, और उस यात्रा में उन्हें शाक्य मठ में ताळपत्रों पर लिखी प्रमाणवार्तिक की एक प्राचीन प्रति तो मिली ही; उसके साथ ही भारतीय दर्शन के कितने ही और अमूल्य संस्कृत ग्रन्थ भी मिले।

सामर्थ्य से स्वयं फैल जाने वाले विष के डंक (व्रणादेश=व्रण द्वारा आदेश, इंजेक्शन) की तरह है।" विचारों की कौन सी धिचपिच से वसुबन्धु इतना खीझे थे कि उन्होंने अपनी विचार-पद्धति को विष की उपमा दी, यह आज हमारे सामने प्रकट नहीं है। भारतीय दर्शन के इतिहास-लेखक के लिए यह एक कड़ा प्रश्न है। जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि वसुबन्धु के विचार अपने सामर्थ्य से स्वयं फैल गये, उन्हों ने शंकर के वेदान्त को जन्म दिया और भारतीय चिन्तन का मार्ग शताब्दियों के लिए बाँध दिया।

धर्मकीर्ति के युग तक भारत के दार्शनिक चिन्तन में कैसा स्वातन्त्र्य और जीवट था, सो *प्रमाणवार्तिक* के इस पद्य से प्रकट है—

वेदप्रामाण्यं कस्यचित्कर्तृवादः,
स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
सन्तापारम्भः पापहानाय चेति,
ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्च लिङ्गानि जाड्ये॥

"वेद (किसी इलहामी ग्रन्थ) को प्रमाण मानना, किसी को (इस सृष्टि का) कर्त्ता मानना, नहाने में धर्म देखना, जात-पाँत का घमंड तथा शरीर को कष्ट देने से पापों का नाश मानना, ये पाँच चिह्न हैं नष्ट बुद्धि वाले लोगों की जड़ता के।"

किन्तु आठवीं शताब्दी के बाद विचार की नवीनता प्रायः समाप्त हो जाती है, और पुराने का व्याख्या करना, उसी में

कोरी कल्पना के आधार पर ऊहापोह करना और बाल की खाल उधेड़ना चल पड़ता है। लगभग ८०० ई० का कश्मीरी दार्शनिक जयन्त भट्ट कहता है—

कुतो वा नूतनं वस्तु वयमुत्प्रेक्षितुं क्षमाः ?

—हममें नई वस्तु की उत्प्रेक्षा (कल्पना) करने की शक्ति कहाँ है ?

भारतीय दर्शन शास्त्र की अनेक अमर रचनाओं के सामने आज भी संसार सिर नँवाता है। नागार्जुन, वसुबन्धु, धर्मकीर्त्ति, शान्तरक्षित और शंकर के दार्शनिक चिन्तन जिस ऊँची सतह तक पहुँच चुके हैं, आधुनिक विचार की धारा उससे बहुत ऊपर नहीं उठ सकी। सारे भारतीय दर्शन का ऐतिहासिक दिग्दर्शन छः सात जिल्दों में, चुने अंशों का अनुवाद करने से, हो सकना चाहिए।

२. व्याकरण और कोश

व्याकरण और कोश सूखे विषय हैं, पर ऐतिहासिक दृष्टि से उनका क्रम-विकास देखना भी मनोरञ्जक है, और उनके क्षेत्र में भी कई रुचिकर तथा अमर रचनाएँ हैं। नमूने के लिए, पतञ्जलि (लगभग १८० ई० पू०) का *महाभाष्य* ऐसी शाही शैली में लिखा गया है कि शायद ही उसके मुकाबले की शैली संस्कृत वाङ्मय में भी—ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य के सिवा—कहीं मिले। और नहीं तो उसकी विवादशैली का ही रस उसके अंशानुवाद द्वारा साहित्य-रसिकों को मिलना चाहिए। डाक्टर बेलवलकर ने

अपने *सिस्टम्स् आव संस्कृत ग्रामर* (संस्कृत व्याकरण की पद्धतियाँ) में व्याकरण वाङ्मय का जो क्रम-विकास दिखलाया है, उसमें भी हमारे राजनीतिक इतिहास के उतार-चढ़ाव की छाया दीख पड़ती है। पूर्णता और बारीक छानबीन में पाणिनि की पद्धति अनोखी थी, वार्त्तिककार कात्यायन और महाभाष्यकार पतञ्जलि ने उन गुणों में उसे अन्तिम सीमा तक पहुँचा दिया। किन्तु जब आर्य उपनिवेश भारतवर्ष के बाहर स्थापित होने लगे, और अनेक अनार्यभाषी तथा थोड़ी फुर्सत वाले ('शास्त्रान्तररताश्च ये') लोगों को संस्कृत के किसी सुगम व्याकरण की जरूरत हुई, ठीक तब (अंदाजन ७८ ई० में) पुरानी ऐन्द्र पद्धति की सुगम परिभाषाएँ बर्तने वाला *कातन्त्र* व्याकरण तैयार हुआ। वह उन लोगों के लिए था जो प्राकृत से संस्कृत पढ़ना चाहते थे। कच्चायन का पालि व्याकरण और तामिल का *तोल्कप्पियम्* भी फिर उसी नमूने पर लिखे गये। पाँचवीं शताब्दी में बौद्ध लेखक चन्द्रगोमी ने फिर एक नई पद्धति चलाई। उस चान्द्र व्याकरण का तिब्बती में अनुवाद हुआ, और सिंहल के बौद्धों में भी वही पद्धति चल गई। ग्यारहवीं सदी के अन्त में जैन हेमचन्द्र ने अपना प्रसिद्ध व्याकरण *शब्दानुशासन* लिखा। उसका अन्तिम चौथाई अंश प्राकृत-विषयक है; और भारतीय प्राकृतों के व्याकरण-विषयक हमारे ज्ञान का वही मुख्य स्रोत है। संस्कृत का कोश वाङ्मय भी भरपूर है, और उसमें *अमरकोश* जैसी अमर रचनाएँ हैं।

३. गणित और ज्योतिष

वेदांग ज्योतिष और शुल्वसूत्रों का उल्लेख ऊपर हो चुका है। संस्कृत वाङ्मय के युग में गणित और ज्योतिष की क्रमोन्नति जारी रही। आरम्भिक सातवाहन युग में गर्ग नाम का ज्योतिषी हुआ। जिसकी *गार्गी संहिता* के उद्धरण मात्र अब मिलते हैं। उसका *युगपुराण* नामक जो अंश प्राप्त होता है, उससे तत्कालीन इतिहास पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। आगे चलकर ज्योतिष के सिद्धान्त ग्रन्थ लिखे गये, और यूनान और रूस के सिद्धान्त भी अपनाये गये। पाँचवीं शताब्दी ई० से पहले यहाँ ज्योतिष के पाँच सिद्धान्त अर्थात् सम्प्रदाय प्रचलित थे, पर उनके मूल ग्रन्थ अब प्राप्त नहीं होते।

अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित और ज्योतिष में भारत के लोग प्राचीन काल में जहाँ तक पहुँच गये थे, दूसरे देशों के लोग बहुत काल पीछे जाकर वहाँ तक पहुँच सके। हमारी आज की दशगुणोत्तर गणना पद्धति आधुनिक विज्ञान की नींवों में से एक है। उसका आविष्कार प्राचीन भारत में ही अन्दाजन तीसरी शताब्दी ई० में हुआ। उससे पहले भी भारत में जो गणना पद्धति चलती थी वह दूसरे देशों की गणनाओं से बहुत सरल थी। पर हमारी उस पुरानी गणना में नौ इकाइयों की तरह नौ दहाइयों के भी अलग-अलग चिह्न थे। इसी प्रकार

सौ हजार आदि के अलग अलग चिह्न थे, और दो सौ या तीन सौ लिखने के लिए सौ के चिह्न के साथ दो या तीन का चिह्न टाँक दिया जाता था। लगभग तीसरी शताब्दी ई० में हमारे किसी पुरखा ने पहले-पहल शून्य चिह्न का आविष्कार किया और यह कल्पना की कि इकाई के आगे एक या अनेक शून्य लगाकर और उसे बायें तरफ़ सरकाते हुए उसका मूल्य क्रमशः दस गुना बढ़ाया जा सकता है। हमारे वाङ्मय में इस पद्धति का पहला निश्चित निर्देश पातंजल योगसूत्र पर व्यास के भाष्य में मिलता है। पेशावर जिले की यूसुफ़जई तहसील (प्राचीन पुष्करावती प्रदेश) के बख्शाली नामक गाँव से पाई गई भोजपत्रों पर चौथी शताब्दी ई० की लिखी संस्कृत की एक गणित विषयक पोथी में इस गणना पद्धति का प्रयोग किया गया है। हमारे अभिलेखों में इस प्रकार की अंकपद्धति छठी शताब्दी ई० से मिलने लगती है। भारत से यह पद्धति आठवीं शताब्दी में अरबों ने सीखी और उनसे बारहवीं शताब्दी में युरोप वालों ने।

दशगुणोत्तर गणना की तरह गणित की अन्य अनेक विधियाँ और क्रियाएँ भी पहले पहल प्राचीन भारत में निकाली गई थीं। विज्ञान के इतिहास लेखकों के मत से बीजगणित के पहले यूनानी विद्वान् दियोफ़ान्तुस्द (३६० ई०) को अपने विषय का आभास भारत से ही मिला था और उसका बीजगणित-ज्ञान भारतीय ज्ञान के सामने नाममात्र का था। बारहवीं शताब्दी

तक भारत के लोग गणित की जिन क्रियाओं और विधियों का आविष्कार कर चुके थे, युरोप वाले उन्हें अठारहवीं शताब्दी तक जाकर समझ सीख सके।

४९९ ई० में पटना में आर्यभट नामक ज्योतिषी ने, जिसकी आयु तब केवल २३ वर्ष की थी, अपना ग्रन्थ *आर्यभटीय* लिखा, जो विज्ञान के इतिहास में एक क्रांतिकारी रचना थी। उसने सूर्य और तारों के स्थिर होने, पृथ्वी के गोल होने तथा अपने अक्ष पर और सूर्य के चारों तरफ घूमने और चन्द्रमा के भी घूमने का प्रतिपादन किया; सूर्य पृथ्वी और चन्द्रमा के आपेक्षिक परिमाण और एक दूसरे से दूरियाँ निश्चित कीं, गुरुताकर्षण की विवेचना की, ग्रहणों के कारणों की वैज्ञानिक व्याख्या की, तथा ज्योतिष के अन्य अनेक नियम खोज निकाले। आर्यभट से पहले यहाँ पौलिश, रोमक, वासिष्ठ, सौर और पैतामह नामक पाँच सिद्धान्त अर्थात् ज्योतिष के सम्प्रदाय प्रचलित थे, जिनमें से रोमक सिद्धान्त यूनान-रोम से लिया गया था। इनकी स्थापनाओं की जाँच-परख और संशोधन कर आर्यभट ने उन्हें अपनी खोजों के साथ अपने ग्रन्थ में स्थान दिया। *आर्यभटीय* का अरबी अनुवाद आठवीं शताब्दी में *अर्जबहर* नाम से हुआ।

आर्यभट के बाद प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर (५०५—५८७ ई०) हुआ, जिसने अपनी *पंचसिद्धान्तिका* में पुराने सिद्धान्तों का भी संक्षेप दिया है। फिर सातवीं शताब्दी के शुरू में ब्रह्मगुप्त (५९८—६६० ई०) तथा आठवीं शताब्दी में (लग-

सग ७४८ ई०) लल्ल ज्योतिषी हुआ। इन दोनों ने आर्यभट की स्थापनाओं का, विशेष कर पृथ्वी के घूमने के सिद्धान्त का, विरोध किया। वास्तव में आर्यभट के विचार अपने युग से इतने आगे बढ़े हुए और इतने क्रांतिकारी थे कि उस युग के लोगों का उन्हें मानना कठिन था। किन्तु बारहवीं शताब्दी में (१११४ ई०) भास्कराचार्य ने उनका फिर प्रतिपादन किया। भास्कर के *सिद्धान्तशिरोमणि* के पहले दो अध्याय गणित-विषयक और पिछले दो ज्योतिष-विषयक हैं। भास्कर की पत्नी लीलावती को भी इस विज्ञान में पूरी रुचि थी, इसलिए सिद्धान्तशिरोमणि के पहले अध्याय का नाम उसी के नाम पर रखा गया है।

गणितज्ञों-ज्योतिषियों की यह परम्परा आगे भी चलती रही, पर भारत के अन्य ज्ञान की तरह इसमें भी विचार की प्रगति रुक गई और विद्या का अर्थ पुरानी बातों को दोहराना ही रह गया। अठारहवीं शताब्दी में सवाई जयसिंह ने जयपुर, उज्जैन, दिल्ली और बनारस में वेधशालायें या यन्त्रमन्दिर ('जन्तर-मन्तर') बनवाये। उसने उन्हें बनवाने से पहले युरोप की नई ज्योतिष-सम्बन्धी खोजों को जानने के लिए जर्मनी से ज्योतिषियों को बुलवाया और उनकी ज्योतिष-तालिकाओं को पूरी तरह समझने के बाद ही अपने मन्दिर खड़े किये। इससे यह सूचित होता है कि नये और बाहरी ज्ञान को लेने और अपनाने की योग्यता भारतीयों में बनी हुई थी, किन्तु यह घटना अपवाद रूप थी। उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेजों की मार्फत जब हमें

पच्छिमी जगत् के नये ज्ञान का परिचय मिला तब बापूदेव शास्त्र , सुधाकर द्विवेदी जैसे भारत के पुरानी शैली के गणितज्ञों ने रोपी गणित की नई बातें तुरत अपना लीं। उदाहरण के लिये दशगुणोत्तर गणना के सिद्धान्त पर दशमलव गणना की पद्धति युरोप में १५वीं-१६वीं शताब्दी में निकली थी, जिसे उन्नीसवीं शताब्दी में उन्होंने ऐसा अपना लिया कि आज वह भारत की पुरानी गणित-पद्धति का अंग बन चुकी है।

४. स्मृति और नीति-ग्रन्थ

पूर्व-नन्द-युग के धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र की परम्परा में बाद के स्मृति और नीति-ग्रन्थों का विकास हुआ। सब से पहले शुङ्ग-युग में *मनुस्मृति* रची गई, फिर पिछले सातवाहनों के समय *याज्ञवल्क्य-स्मृति* और *महाभारत-शान्तिपर्व* का *राजधर्म*। *नारद स्मृति* आरम्भिक गुप्त युग की रचना है। श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल का कहना है कि *कामन्दकनीति* का कर्त्ता सम्राट् चन्द्रगुप्त २ य का मंत्री था। इनमें से प्रत्येक कृति में अपने अपने समय की परिस्थिति और विचारों की पूरी छाप है। *मनु* ने धर्म और व्यवहार को एक ग्रंथ में मिला दिया। *याज्ञवल्क्य* ने उसका अनुसरण किया। किन्तु नारद ने फिर व्यवहार को धर्म के बंधन से मुक्त किया, और बृहस्पति तथा कात्यायन ने भी शुद्ध व्यवहार स्मृतियाँ लिखीं। मध्यकाल में नई स्मृतियाँ नहीं रची गईं, पुरानियों पर भाष्य और टीकाएँ होती रहीं। उत्तर भारत

में तुर्क राजसत्ता स्थापित हो जाने पर भी तिरहुत में गियासु-द्दीन तुगलक के समय तक कर्णाट वंश का राज्य बना रहा और तुग़लकों की आधी शताब्दी की अधीनता के बाद वहाँ फिर एक ब्राह्मण राजवंश स्थापित हो गया जो सिकन्दर लोदी और हुसेन शाह बंगाली के समय तक जारी रहा। मिथिला के इन पिछले हिंदू राज्यों में स्मृति-वाङ्मय का अध्ययन विशेष रूप से जारी रहा, और उस पर अनेक निबन्ध (digest) लिखे गये। इस प्रकार इस वाङ्मय का सिलसिला सोलहवीं सदी ई० तक चलता रहा। पहले स्मृति और नीति-वाङ्मय में अनेक अमर कृतियाँ हैं, और पिछले भाष्यों और निबंधों में भी कई अंश काम के हैं। जर्मन दार्शनिक नीट्शे ने यह कह कर युरोप में खलबली मचा दी थी कि मनुस्मृति की शिक्षाओं को बाइबल नहीं पहुँच पाती। इस वाङ्मय में से अर्थशास्त्र के बाद मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति का तो अविकल अनुवाद होना ही चाहिए; बाकी का दिग्दर्शन चार-पाँच जिल्दों में हो सकना चाहिए।

५. वैद्यक रसायन आदि

आरम्भिक जादू-टोने के साथ ओषधियों का प्रयोग भी सम्मिलित होता है, और उसी से धीरे-धीरे वैद्यक-शास्त्र का विकास होता है। सभी जातियों में यह बात ऐसे ही हुई है। इस प्रकार हमारे वैद्यक-शास्त्र का मूल अथर्ववेद में है। उत्तर

वैदिक युग में आयुर्वेद एक उपवेद बन गया, और फिर महाजन पद और पूर्व नंद युग में तक्षशिला गुरुकुल में उसकी बड़ी उन्नति हुई। वैद्यक शास्त्र के सबसे पुराने उपस्थित प्रसिद्ध ग्रंथ *चरक-संहिता* और *सुश्रुत-संहिता* हैं। इनके अतिरिक्त *भेळ-संहिता*, *काश्यप-संहिता* आदि भी प्राप्त और प्रकाशित हुई हैं। संहिता होने का अर्थ है कि ये ग्रन्थ मूलतः और मुख्यतः एक-एक व्यक्ति की कृतियाँ होने पर भी सम्प्रदायों अर्थात् गुरुशिष्य-परम्पराओं में सम्पादित होते रहे।

चीनी भाषा में अनूदित बौद्ध ग्रंथों से पता मिला है कि चरक कनिष्क के समकालीन थे। आजकल चरक का जो ग्रंथ हमें मिलता है वह दृढबल-कृत चरक-संहिता का पुनःसंस्करण है। मूल चरक-संहिता भी अग्निवेश की कृति का *प्रतिसंस्करण* थी। अग्निवेश आत्रेय पुनर्वसु के शिष्य थे। कृष्ण आत्रेय और भिक्षु आत्रेय नामक वैद्यक के प्राचीन आचार्यों के नाम भी प्रसिद्ध हैं। आधुनिक विद्वानों की धारणा है कि यह आत्रेय वंश तक्षशिला गुरुकुल में था[१]। बुद्ध के समय राजगृह से जीवक नामक युवक आयुर्वेद सीखने के लिए तक्षशिला गया था, और उसने वहाँ सात बरस तक शिक्षा पाई थी। वहाँ से लौट कर उसके मस्तिष्क आँतों आदि के रोगों को चीरफाड़ कर ठीक करने के कई वृत्तान्त पालि साहित्य में हैं।

---

१. नेपाल के राजगुरु हेमराज शर्मा इसे स्वीकार नहीं करते।

उसका नाम पालि में जीवक कोमारभच्च प्रसिद्ध है, क्योंकि वह कौमारभत्य अर्थात् बच्चों के रोगों की चिकित्सा में दक्ष था। चरक-संहिता के संस्कर्ता दृढबल भी पंचनद के थे। पंजाब की पाँचों नदियों के मिलने से उक्त नगर के पास सतलज की जो निचली धारा बनती है, सिन्ध नदी में मिलने से पहले उसे अब भी पंजनद कहते हैं; उसी का काँठा पंचनद कहलाता होगा। इस प्रकार आत्रेयों से लेकर दृढबल तक उक्त सभी आचार्यों का सम्प्रदाय पंजाब में था।

सुश्रुत धन्वन्तरि के शिष्य थे। धन्वन्तरि के काशी के राजा होने की ख्यात है, और उनके वंशज दिवोदास के भी वैद्यक का आचार्य होने की प्रसिद्धि है।

सन् १८९० में चीनी तुर्किस्तान के उत्तरपूरब भाग में स्थित कूचा नगर के पास एक स्तूप में से कर्नल बावर को भोजपत्रों पर गुप्त युग की लिपि में लिखी संस्कृत की सात पोथियों के पन्ने मिले थे जिनमें से तीन आयुर्वेद की थीं। इनमें से एक में लह-सुन के गुणों और उपयोगों का विवेचन है, और वह भी काशि-राज द्वारा सुश्रुत को दिये हुए उपदेश के रूप में। यों काशी जनपद में भी वैद्यक का एक पुराना सम्प्रदाय था। भेळ, हारीत पराशर, काश्यप आदि वैद्यक के अन्य पुराने आचार्य थे। पशुओं के रोगों और उनकी चिकित्सा की ओर भी कुछ आचार्यों ने ध्यान दिया था। शालिहोत्र नामक आचार्य अश्वायुर्वेद के और पालकाप्य गजायुर्वेद के प्रणेता प्रसिद्ध हैं।

हमें अब जो सुश्रुत संहिता मिलती है वह वृद्ध सुश्रुत का नागार्जुन-कृत पुनः संस्करण है। भारतीय ज्ञान और विज्ञान के इतिहास में नागार्जुन का ऊँचा स्थान है। उनका समय लगभग १५० ई० है, और वे दक्षिण कोशल (छत्तीसगढ़) के निवासी थे। वे महायान के प्रवर्त्तक थे। सिद्ध नागार्जुन हर्षचरित के अनुसार एक सातवाहन राजा के मित्र थे, इसलिए उनका समय भी दूसरी शताब्दी ई० के पीछे नहीं जा सकता। उनका *सिद्धपन* कुछ यौगिक क्रियाओं के कारण भी रहा हो, पर वह मुख्यतः रासायनिक सिद्धियों अर्थात् लोहे को सोना बनाने के रहस्यपूर्ण प्रयत्नों के कारण था। सिद्ध नागार्जुन ही लोह-शास्त्रकार नागार्जुन हैं; पारे के अनेक योग बना कर उन्होंने रासायनिक समासों के ज्ञान में उन्नति की, और भारतीय वैद्यक में *रसों* का प्रयोग जारी किया। महायान के बाद सिद्धि-प्रधान वज्रयान का उदय हुआ, इसलिए महायान दार्शनिक नागार्जुन और सिद्ध नागार्जुन का एक ही व्यक्ति होना बहुत सम्भव—प्रत्युत एक ही समय होने के कारण लगभग निश्चित—है। सिद्ध नागार्जुन का *सिद्धिशास्त्र* जननशास्त्र-विषयक अमूल्य गुह्य ज्ञान का भंडार है।

नागार्जुन के अतिरिक्त एक पतञ्जलि का लिखा हुआ *लोहशास्त्र* बहुत प्रसिद्ध था, और उसके जो उद्धरण जहाँ-तहाँ मिले हैं उनसे उसका बड़ा महत्त्व सूचित होता है। पंडितों की अनुश्रुति के अनुसार योगदर्शन-कार पतञ्जलि और व्याकरण-

महाभाष्यकार पतञ्जलि एक ही व्यक्ति हैं, और वही वैद्यक के आचार्य भी।

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां, पतञ्जलिं ....॥

पतञ्जलि का वैद्यक का आचार्य होना लोहशास्त्रकार होने के कारण ही प्रसिद्ध हुआ, किन्तु पीछे उनकी चरक से अभिन्नता मान ली गई। इस अनुश्रुति को स्वीकार करना असम्भव है।

चरक, सुश्रुत संहिताओं के बाद आयुर्वेद वाङ्मय में तीसरा प्रसिद्ध नाम वाग्भट के अष्टांगहृदय का है। यह छठी शताब्दी ई० के लगभग अन्त की कृति है, क्योंकि चीनी यात्री इ-चिङ ने लिखा है कि उसके समय से कुछ ही पहले आठ भागों में आयुर्वेद का ग्रन्थ लिखा गया था। वाग्भट के युग में कुछ लोग यह कहने लगे थे कि पुराने ऋषियों की कृतियाँ अलौकिक थीं, और आजकल की रचनायें उनका मुकाबला नहीं कर सकतीं। इसका उत्तर वाग्भट ने क्या जोरदार शब्दों में दिया है—

वाते पित्ते श्लेश्मशान्तौ च पथ्यं
तैलं सर्पिर्माक्षिकं च क्रमेण
एतद् ब्रह्मा भाषते ब्रह्मजो वा
का निर्मन्त्रे वक्तृभेदोक्तिशक्तिः ?

ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ
भेळाद्याः किं न पठ्यन्ते ? तस्माद् ग्राह्यं सुभाषितम्।

"वात पित्त और कफ की शान्ति के लिए क्रमशः तेल घी और शहद पथ्य हैं यह तथ्य ब्रह्मा कहे तो और ब्रह्मा का बेटा कहे तो, यदि मन्त्र के प्रभाव की बात नहीं है तो वक्ता के भेद से इस में कौन शक्ति पैदा हो जाती है ?"

"यदि ऋषियों की कृतियों में ही श्रद्धा है तो चरक सुश्रुत को छोड़ कर भेळ आदि के ग्रन्थ क्या नही नहीं पढ़े जाते ? इसलिए अच्छे कथनों को ले लेना चाहिए।"

इससे प्रकट है कि चरक सुश्रुत संहिताएँ सम्प्रदायों में बार-बार प्रतिसंस्कृत और सम्पादित होने के कारण परिष्कृत और परिपक्व रचनाएँ बन चुकी थीं, जहाँ भेळ आदि के ग्रन्थों में कुछ अच्छी बातें रहने पर भी वे प्रारम्भिक और अपरिपक्व कृतियाँ माने जाते थे।

कहने वाले के अन्तर से तथ्य में अन्तर नहीं हो जाता, वाग्भट का यह विचार जैसा लोकतन्त्रीय है, उसे कहने का उसका ढंग भी वैसा ही लोकतन्त्रीय है।

आयुर्वेद के अन्तर्गत शरीररचना शास्त्र (एनाटोमी), शरीरक्रियाशास्त्र (फ़िजियोलोजी), वनस्पतिशास्त्र, शल्यचिकित्सा, पशुचिकित्साशास्त्र, वृक्षायुर्वेद आदि अनेक विज्ञान थे। इनमें से अनेक का मूल अथर्ववेद में ही है। मनुष्य शरीर की हड्डियों की गिनती वहाँ ठीक ठीक मिलती है। मांसपेशियों, धमनियों आदि का भी प्रायः पूरा विवेचन आयुर्वेद के ग्रन्थों में है। शरीर के विभिन्न अंगों के कार्यों, पाचन रक्त संचरण आदि प्रक्रियाओं

का भी उनमें बहुत कुछ ठीक विवेचन है। रक्त संचरण की प्रक्रिया जैसी आज हमें ज्ञात है उसे पहले पहल पूरा पूरा हार्वी नामक वैज्ञानिक ने १६२८ ई० में पहचाना था। उससे पहले युरोप के वैद्य यह मानते थे कि रक्त का संचार केवल धमनियों में ऊपर नीचे होता है। हमारे वैद्यक ग्रन्थों की कल्पना भी यद्यपि अधूरी थी, तो भी वह युरोपी वैद्यों की कल्पना की अपेक्षा सचाई के निकटतर थी। रक्त को शुद्ध करने में फेफड़ों के कार्य को हमारे वैद्यों ने नहीं पहचाना था, बाकी अंश में उनकी कल्पना प्रायः ठीक थी। उनके अनुसार धमनियाँ अशुद्ध रक्त को हृदय से यकृत् की तरफ और शिरायें उसे फिर यकृत् से हृदय की तरफ ले जाती हैं।

ज्ञानतन्तुओं के विषय में हमारे पुराने वैद्यक आचार्यों का विचार गलत था। चरक और सुश्रुत धमनियों की तरह उनका केन्द्र भी हृदय को मानते थे। किन्तु पीछे के हठयोगी और तान्त्रिक आचार्यों ने इस बात को ठीक पहचान लिया कि ज्ञान नाड़ियों का केन्द्र मस्तिष्क है, तथा मस्तिष्क और मेरुदण्ड का परस्पर सम्बन्ध है। पिछले आयुर्वेद ग्रन्थों में इसका विवेचन ठीक मिलता है।

यों वैद्यक और रसायन की उन्नति चरक, सुश्रुत, नागार्जुन पतञ्जलि और वाग्भट के बाद भी जारी रही। वैज्ञानिक खोज का जो आरम्भ उन्होंने किया, वह बहुत आशाजनक और ऊँचे दर्जे का था; पर दुर्भाग्य से कुछ समय बाद उसमें आगे उन्नति

बन्द हो गई। मध्य काल में भारतीय विचार और ज्ञान की धारा में प्रवाह न रहा, जहाँ तक पहुँचे थे उसी को पूर्ण और अन्तिम मान कर भारतीय मस्तिष्क संकीर्ण बन कर उसी में चक्कर काटने लगा। इसी से शृङ्खलाबद्ध भौतिक विज्ञान हमारे देश में पैदा न हुए, आरम्भिक तजरबे जमा होकर रह गये। पर उन तजरबों में भी अत्यन्त मूल्यवान् रत्न हैं। अभी तक आधुनिक रसायनशास्त्र हमारे रसों के रहस्य को खोल नहीं सका। उसके अनुसार हमारा मकरध्वज पारे का गन्धिद (sulphide) है, पर आधुनिक साधारण प्रक्रिया से बने हुए पारे के गंधिद में मकरध्वज के गुण नहीं पाये जाते। इसलिए यह कहना पड़ता है कि सोने, पारे और गंधक को कपड़मिट्टी की हुई बोतल में बन्द कर उपलों की आँच में पका कर तैयार किये पारे के गंधिद में जो सूक्ष्म प्रभाव आ जाते हैं, उन्हें आधुनिक विज्ञान अभी तक नहीं माप सका। इसी प्रकार के रहस्य अभी तक हमारे *त्रिदोष-सिद्धांत* में और योग क्रियाओं में भी छिपे हैं। आधुनिक दृष्टि से हठयोग की शारीरिक साधनाओं के अंश की गिनती चिकित्सा-शास्त्र में और मानसिक साधनाओं की गिनती मनोविज्ञान में करनी चाहिए। इन विषयों की ठीक व्याख्या आधुनिक विज्ञान की पद्धति से खोज करने पर ही हो सकेगी। वैसी खोज में विज्ञान के अनेक नये तथ्य भी प्रकाश में आएँगे। किन्तु वैसी खोज के लिए भी आवश्यक है कि इन विषयों की कृतियों को ऐतिहासिक क्रम में देखा समझा जाय।

इनसे मिलता हुआ विषय कामशास्त्र का है। उस विषय के विचार का आरम्भ उपनिषदों में प्रसिद्ध श्वेतकेतु मुनि के समय से हो चुका था। वैसा होना स्वाभाविक भी था, क्योंकि श्वेतकेतु के ही विषय में यह प्रसिद्ध है कि उसने विवाह-प्रथा को सुस्थापित किया; और जहाँ मर्यादित विवाह आदर्श माना जाने लगा, वहीं वह समस्या उपस्थित हो गई जिसे कामशास्त्र हल करता है। उस समस्या को वात्स्यायन ने जैसे स्पष्ट और सीधे रूप में कहा है वैसे शायद ही आज तक किसी ने कहा हो। वे कहते हैं कि पशुओं के नर और मादा को यदि परस्पर तृप्ति न हो तो वे दूसरी जोड़ी में तृप्ति कर सकते हैं; पर मनुष्य को मर्यादा से रहना पड़ता है, इसी कारण तृप्ति के अभाव के कारणों और उन्हें दूर करने के उपायों पर विचार करना पड़ता है। वात्स्यायन का कामसूत्र अपने विषय का अनूठा ग्रन्थ है; वह एक स्थायी कृति है। उसका समय तीसरी शताब्दी ई० है। पीछे, मध्य काल के भारतीय विचार में प्रत्येक विषय में किस प्रकार प्रगति बन्द हो गई, इसका एक अच्छा नमूना हमें इस विषय के पिछले ग्रन्थों से मिलता है। वात्स्यायन ने अपने समय के विभिन्न जनपदों की स्त्रियों के स्वभावों और प्रवृत्तियों की छानबीन की। अनंगरङ्ग नाम का एक ग्रन्थ दिल्ली के लोदी सुलतानों के समय लिखा गया। उसका लेखक भी उस विषय को उठाता है, पर अपने समय की जाँच-पड़ताल अपनी आँखों और बुद्धि से करने के बजाय तीसरी शताब्दी ई० के जनपदों

के नाम दोहराता हुआ वात्स्यायन के शब्दों का टूटा-फूटा अनुवाद कर डालता है, यद्यपि लोदी युग के राजनीतिक नक्शे में उन जनपदों का नाम-निशान भी बाकी न था, और पुराने जनपदों में नई जातियाँ बस चुकी थीं! अंधी निर्जीव नकल का वह अच्छा नमूना है।

६. ललित कला

कामशास्त्र का एक तरफ यदि वैद्यक से सम्बन्ध है तो दूसरी तरफ ललित कला से। वात्स्यायन के ग्रन्थ से ललित कला की समुन्नत दशा सूचित होती है। उस समृद्धि के युग में कलाओं का विकास होना स्वाभाविक था। वह सातवाहन युग ही था जब कि भारतवर्ष के बुनी हुई हवा के जाले पहन कर रोमन स्त्रियाँ अपना सौन्दर्य दिखाती थीं। नट-शास्त्र का उदय पाणिनि से पहले हो चुका था, सो कह चुके हैं। सातवाहन युग में भरत का नाट्य-शास्त्र लिखा गया[1], जो भारतीय संगीत और नृत्य-कला के विषय की अमर कृति है। सरगुजा के रामगढ़ पहाड़ की सीताबेंगा गुफा की दीवारों पर लिखे चित्रों से सिद्ध है कि ईसा से पहले भारत में चित्रण-कला का भी विकास हो चुका

---

१. उसमें पह्लव जाति का उल्लेख होने से उसका वह समय निश्चित होता है।

था। किन्तु अजन्ता की जगत्प्रसिद्ध लेणियों (गुफाओं) के चित्र उस कला की सबसे कीमती और अमर उपज हैं। दक्खिन के कई मन्दिरों की दीवारों की सफ़ेदी के नीचे पल्लव राजाओं के समय के भी अनेक चित्र पाये गये हैं। काञ्ची के पल्लव राजवंश ने तीसरी से नवीं शताब्दी ई० तक राज किया। उक्त चित्र प्रायः सातवीं शताब्दी के हैं। मूर्तिकला, स्थापत्य आदि विषयों के कई ग्रन्थ पुराणों के अंतर्गत भी हैं। इन कलाओं की अंतिम परिणति मध्य काल में हुई, और तब के कई ग्रन्थ—*मानसार*, *राजमंडन* आदि—उपलभ्य हैं। किन्तु ये उस युग के वातावरण की उपज हैं जब सजीव कल्पना का स्थान रूढियों ने ले लिया था।

७. काव्य-साहित्य

वैदिक और उत्तर वैदिक वाङ्मय में काव्य-साहित्य का बीज-मात्र टटोला जा सकता है। संस्कृत वाङ्मय का काव्य ही मुख्य अंग है। संस्कृत और प्राकृत काव्य-साहित्य का विकास वास्तव में पुराण-इतिहास वाङ्मय से हुआ। वाल्मीकि को आदि कवि कहते हैं। उन्होंने रामचन्द्र की कोई ख्यात गाथाओं में रची होगी। फिर ४०० ई० पू० के करीब *भारत* और *रामायण* काव्यों के मूल रूप तैयार हुए। किन्तु असल साहित्य का उदय सातवाहन युग में हुआ। २०० ई० पू से २०० ई० तक *भारत* का *महाभारत* बना, अर्थात् *महाभारत* अपने विद्यमान रूप में आया। रामायण को भी पहली शताब्दी ई० पू० में अपना

अंतिम रूप मिला। ये सबसे पुराने काव्य थे। वही समय बौद्ध संस्कृत वाङ्मय के सरल और मनोहर गद्य में लिखे गये अवदानों अर्थात् ऐतिहासिक कथानकों का है। उनके बाद श्रव्य और दृश्य काव्यों की धारा ही बह निकली। भास का समय विभिन्न विद्वान् पहली शताब्दी ई० पू० से तीसरी शताब्दी ई० तक मानते हैं। किंतु अश्वघोष की कनिष्क से समकालीनता निश्चित है। जब तक भास का समय स्थिर नहीं होता, अश्वघोष का *शारिपुत्रप्रकरण* संस्कृत का सबसे पुराना नाटक और उनका *बुद्धचरित*—महाभारत और रामायण के बाद—सबसे पुराना काव्य कहा जायगा। शूद्रक का *मृच्छकटिक*, विशाखदत्त का *मुद्राराक्षस*, विष्णुशर्मा का *पञ्चतंत्र* आदि अत्यन्त हृदयग्राही और अमर रचनाएँ हैं। किन्तु संस्कृत-साहित्य-सागर के सबसे उज्ज्वल और अमूल्य रत्न गुप्त युग में प्रकट हुए। भारतीय आत्मा की जैसी पूर्ण चौमुखी अभिव्यक्ति कालिदास की कृतियों में हुई है, वैसी न तो वैदिक ऋचाओं में पाई जाती है, न उपनिषदों के तत्त्वचिन्तनों में और न बुद्ध तथागत के सुत्तों में। कालिदास मानो भारत के हृदय हैं। वे हमारे सामने भारतीय आदर्शों का चौमुखा समन्वय रख देते हैं। *शाकुन्तल* में वे आरम्भिक आर्यों के वीरता और साहस से पूर्ण सरस जीवन के आदर्श को अंकित कर अमर कर गये हैं, तो *रघुवंश* में रघु-दिग्विजय के बहाने भारतवर्ष की राष्ट्रीय एकता को एक सजीव ध्येय में रख गये हैं। सन् १९३० में रघु

के उत्तर दिग्विजय के एक एक देश की पहचान करते हुए जब मैंने उसका रास्ता टटोल डाला, तब यह देख कर मुझे अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि आधुनिक भूवृत्त, इतिहास, भाषा-विज्ञान और जनविज्ञान के सहारे हम भारतवर्ष की जो स्वाभाविक सीमाएँ नियत कर पाते हैं, कालिदास ने अपनी सहज दृष्टि से उन्हें ठीक ठीक पहचाना और अङ्कित किया है! उस महाकवि के विशाल हृदय की अनोखी सूझ और राष्ट्रीय आदर्श-वादिता का वह उज्ज्वल प्रमाण है।'[1]

गुप्त युग के बाद भी कम से कम भवभूति के समय (लगभग ७४० ई०) तक संस्कृत साहित्य की वही सजीवता बनी रही। उसके पीछे सहज सौन्दर्य का स्थान आलंकारिक सजावट लेने लगी, और मध्य काल की सड़ाँद अपना प्रभाव दिखाने लगी। पर राजशेखर जैसे मध्यकालीन कवियों की रचनाओं में भी काफी ताज़गी है।

वाङ्मय के अन्य क्षेत्रों में प्राकृतों को नहीं पूछा गया, पर काव्य-साहित्य में उनका स्थान संस्कृत के बराबर है। प्रत्युत ठीक ठीक कहें तो अभिलेखों की तरह साहित्य में भी पहले—प्रायः पहली शताब्दी ई० तक—प्राकृतों की ही प्रधानता रही। हाल की *गाथासप्तशती* और गुणाढ्य की *बृहत्कथा* से यह सूचित है। बृहत्कथा का समय नई खोज से ७८ ई० सिद्ध हुआ है। भार-

---

१. भारतभूमि और उसके निवासी (१६३१), पृ० ३१८-३१६।

तीय साहित्य का वह अनुपम रत्न आज हमें अपनी मूल पैशाची प्राकृत में नहीं मिलता, पर उसके तीन संस्कृत और एक तमिळ अनुवाद उपस्थित हैं।

संस्कृत और प्राकृत साहित्य के कुल रत्नों की गिनती करना कठिन है, तो भी अंदाजन पचीस-तीस जिल्दों में उनका संकलन हो सकेगा।

८. पिछले इतिहास-ग्रन्थ

पुराणों का ऐतिहासिक वृत्तान्त बन्द हो जाने के बाद भी अनेक फुटकर ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखे जाते रहे। बाण का *हर्ष-चरित*, बिल्हण का *विक्रमांकचरित*, संध्याकर नन्दी का *रामचरित* आदि उनके उदाहरण हैं। पर उन सब से ऊँचा स्थान कल्हण की *राजतरंगिणी* का है। बौद्ध ग्रन्थ *आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प* का ऐतिहासिक अंश व्यक्तियों के नामों को संकेताक्षरों से सूचित करने के कारण रहस्यमय हो गया है। तो भी जायसवाल जी ने उसकी संकेत-भाषा का रहस्य खोल दिया है। उसके पीछे भी ऐतिहासिक प्रबन्ध लिखे जाते रहे, जिनके संग्रह *प्रबन्धकोष*, *प्रबन्धचिन्तामणि* आदि ग्रन्थ हैं। आरम्भिक सातवाहन युग के बौद्ध संस्कृत वाङ्मय के अवदान सरल ऐतिहासिक कहानियों के रूप में बेजोड़ रचनाएं हैं। पुरानी दृष्टि से इन सब ऐतिहासिक ग्रन्थों की गिनती भी काव्यों में ही है, क्योंकि काव्य शैली का उदय स्वयं पुराण-इतिहास से ही हुआ था।

६. अभिलेख

पत्थर और ताम्रपत्र आदि पर खुदे हुए राजकीय और अन्य अभिलेख भारतीय इतिहास के पुनरुद्धार में तो सहायक हुए ही हैं, वाङ्मय और साहित्य की दृष्टि से भी उनका बड़ा मूल्य है। गद्य और पद्य की अव्वल दर्जे की रचनाएँ उनमें हैं। रुद्रदामा का गिरनार-चट्टान का लेख और राजा चन्द्र (चन्द्रगुप्त) का महरोली की लोहे की 'कीली' पर का लेख संस्कृत गद्य और पद्य के बढ़िया नमूने हैं। वैसे और अनेक संदर्भ अभिलेखों में हैं। अभिलेख-वाङ्मय भी बड़ा विस्तृत है। उसका आरम्भ एक तरह से अशोक के समय से होता है। अशोक के अभिलेख मानो उसका पहला अध्याय हैं। वे सब पालि या प्राकृत में हैं। तब से दूसरी शताब्दी ई० तक सब अभिलेख प्राकृत में ही पाये जाते हैं। यह बात ध्यान देने की है कि हिन्दूकुश के चरणों में बसी कापिशी[1] नगरी से पांड्य-देश की मधुरा (मदुरा) तक, और हरउवती या अरखुती (आधुनिक अरगंदाब)[2] नदी की

---

१. कापिशी के देश को अरब लेखकों ने *काफ़िसिस्तान* कहा जो बाद में लिखने की गलती से *काफ़िरिस्तान* हो गया। हिन्दूकुश तथा काबुल और कुनार नदियों के बीच के देश का अब वही नाम है। कापिशी नगरी का उल्लेख *अष्टाध्यायी* ४. २. ९९ में है।

२. हरउवती और अरखुती *सरस्वती* के रूपान्तर हैं, और अर-

दून (आजकल के कंदहार-प्रदेश) से उड़ीसा तक, इन चार शताब्दियों के जितने अभिलेख चट्टानों, मूर्त्तियों, स्तम्भों या सिक्कों आदि पर मिले हैं, वे सब भिन्न-भिन्न प्रादेशिक प्राकृतों में नहीं, किन्तु एक ही प्राकृत में हैं, जो इन चार शताब्दियों में भारतवर्ष की वैसी पूरी राष्ट्रभाषा थी जैसी हिन्दी आज भी नहीं हो पाई। वह प्राकृत—जिसे श्री सेनार ने 'अभिलेखों की प्राकृत' नाम दिया है—भारतवर्ष की राष्ट्रीय एकता का एक जीवित प्रमाण है। शक रुद्रदामा के ७२ शकाब्द के लेख से अभिलेखों में संस्कृत का प्रयोग शुरू हुआ, और आगे वह उत्तरोत्तर बढ़ता गया। दूसरी शताब्दी ई० के अन्त से हमें परले हिन्द (Further India) के परले छोर—आधुनिक फ्रांसीसी हिन्दचीन—तक से संस्कृत अभिलेख मिलने लगते हैं। किन्तु चीन-हिन्द वा उपरले हिन्द (Serindia, आधुनिक चीनी तुर्किस्तान) की राजभाषा, जो वहाँ की कील-मुद्राओं (लकड़ी की तख्तियों) पर के अभिलेखों में पाई गई है, इस युग में गान्धारी [1] प्राकृत ही रही। गुप्त युग के सब अभिलेख संस्कृत

खुती का रूपान्तर अरगन्द-आब। देखिए—भारतभूमि और उसके निवासी पृ० १८५।

१. तक्षशिला और पुष्करावती के चौगिर्द का प्रदेश प्राचीन गान्धार था, अर्थात् रावलपिंडी-पेशावर इलाका। पुष्करावती काबुल और स्वात नदियों के संगम पर आजकल के चारसद्दा के स्थान पर थी।

में हैं। मध्य काल के अभिलेखों की संख्याएँ और परिमाण प्राचीन काल वालों से कहीं अधिक है, और उस काल के पिछले अंश में उनमें संस्कृत के साथ साथ देशी भाषाएँ भी आने लगती हैं। भारतवर्ष और बृहत्तर भारत में हिन्दू राज्यों का अन्त होने तक वह सिलसिला जारी रहता है। खोज से अभी अनेक नये अभिलेख आये-दिन मिल रहे हैं। उनके संकलनीय अंशों का दिग्दर्शन दो-चार जिल्दों में हो सकता है।

१०. पिछला बौद्ध वाङ्मय

अ. पिछला पालि वाङ्मय

तिपिटक के बाद भी पालि वाङ्मय की परम्परा प्राचीन काल के अन्त तक चलती रही। दूसरी शताब्दी ई० पू० में मद्र देश (रावी-चनाब-दोआब के उपरले भाग) की राजधानी शाकल (स्यालकोट) के यूनानी राजा मेनन्द्र को थेर नागसेन ने बौद्ध बनाया। मेनन्द्र या मिलिन्द और नागसेन के प्रश्नोत्तर के रूप में *मिलिन्दपञ्हो* नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में बौद्ध शिक्षा दी गई है। अशोक के समय सिंहल में बौद्ध धर्म पहुँचा था, तबसे बराबर पालि वहाँ की पवित्र भाषा बनी रही। *दीपवंस* (अर्थात् द्वीपवंश—सिंहलद्वीप के राजवंश) और *महावंस* नामक दो प्रसिद्ध पालि ऐतिहासिक ग्रन्थ वहीं लिखे गये। उनके अतिरिक्त पिछले पालि वाङ्मय में मुख्य वस्तु तिपिटक की अट्ठकथाएँ

(अर्थकथाएँ, भाष्य) हैं, जिनमें बुद्धघोष, धम्मपाल आदि प्रसिद्ध विद्वानों की कृतियाँ सम्मिलित हैं। उनमें भी बहुत से मनोरञ्जक और महत्त्वपूर्ण अंश हैं जिनका संकलन अभीष्ट है।

३. सर्वास्तिवाद और महायान के ग्रन्थ

पालि तिपिटक में बौद्ध धर्म का जो प्रारम्भिक रूप है वह थेरवाद कहलाता है। पीछे अनेक अन्य वाद भी पैदा हुए। बुद्ध का आदेश था कि उनके अनुयायी उनकी शिक्षाओं को अपनी अपनी भाषा में कहें-सुनें। इसी कारण प्रत्येक वाद का वाङ्मय उस प्रदेश की भाषा में बना जो उस वाद का मुख्य केन्द्र था। पालि किस प्रदेश की भाषा थी, सो आज तक विवादग्रस्त है। पिछले अनेक वादों के वाङ्मय पालि तिपिटक के नमूने पर ही बने; उनमें से कोई-कोई ग्रंथ ही अब बाकी बचे हैं। मौर्य साम्राज्य के पतन काल में मथुरा प्रदेश में आर्य-सर्वास्तिवाद प्रचलित रहा। उसके ग्रन्थ संस्कृत में थे। *अशोकावदान* उसी की कृति है। कनिष्क के समय गांधार और कश्मीर में मूल-सर्वास्तिवाद का जोर रहा। कश्मीर और गांधार के सर्वास्तिवादियों का पारस्परिक मतभेद मिटाने को ही कनिष्क ने चौथी सङ्गीति जुटाई, जिसमें *महाविभाषा* नामक तिपिटक का एक भाष्य तैयार हुआ। उसी से उस वाद का नाम वैभाषिक पड़ा। सौत्रान्तिक सम्प्रदाय भी वैभाषिक से मिलता-जुलता है। उसका वाङ्मय भी संस्कृत में था, पर अब उसके ग्रन्थ चीन,

मध्य एशिया और तिब्बत में ही मिले हैं। *महावस्तु* नामक एक बड़ा ग्रन्थ अब मिलता है जो महासांघिक सम्प्रदाय का विनय है। उसकी भाषा प्राकृत मिश्रित एक विचित्र प्रकार की संस्कृत है।

वैभाषिक सम्प्रदाय से एक नये वाद का उदय हुआ, जिसे आचार्य नागार्जुन ने *महायान* नाम दिया। उसके लिए नये सुत्त बनाये गये जो सब संस्कृत में हैं। सुत्तों को संस्कृत में सूक्त कहना चाहिए था, पर इस पिछले वाङ्मय में वे सूत्र कहलाते हैं। वास्तव में वे सूत्र नहीं, लंबे लंबे संवाद हैं, जिनमें प्रायः बुद्ध के मुँह से उसी पुरानी शैली—*एवं मया श्रुतम्*...—से भूमिका बाँध कर उपदेश दिलाया गया है। *रत्नकूटसूत्र*, *ललितविस्तर* (बुद्ध की जीवनी), *सद्धर्मपुण्डरीक* *प्रज्ञापारमिता सूत्र*, *सुखावतीव्यूह* आदि इस पिछले बौद्ध वाङ्मय के अङ्ग हैं। इस वाङ्मय को भी विनय, सुत्त और अभिधम्म में बाँटा जाता है। वास्तव में बौद्ध संस्कृत वाङ्मय में जो नई चीज़ है, वह या तो उसका अभिधम्म अर्थात् दर्शन है, और या उसके कुछ काव्य (जैसे *ललितविस्तर*) और अवदान। इनकी गिनती संस्कृत-प्राकृत के उक्त क्षेत्रों में हम पहले ही कर चुके हैं; यहाँ केवल स्पष्टता की खातिर इनका अलग उल्लेख किया जा रहा है। महायान के पहले दार्शनिक थे नागार्जुन, और उनके बाद हुए वसुबन्धु और आसङ्ग। ये दोनों विद्वान भाई पाँचवीं शताब्दी ई० में पेशावर में प्रकट

हुए। इनके ग्रन्थों के साथ महायान-वाङ्मय को पूर्ति हुई। पीछे दिङ्नाग के समय से बौद्ध तार्किक होने लगे।

७. वज्रयान और तन्त्र-वाङ्मय

जादू-टोना, कृत्या-अभिचार और अलौकिक सिद्धियों का मार्ग हमारे देश में अथर्ववेद के समय से प्रचलित था। उसमें से अनेक अच्छी चीजें—वैद्यक, रसायन, हठयोग आदि—भी पैदा हुईं, सो कह चुके हैं। दूसरी-तीसरी शताब्दी ई० से बौद्ध धर्म पर भी उसकी छाँह पड़ने लगी, और धीरे-धीरे उसका प्रभाव यहाँ तक बढ़ा कि महायान वज्रयान में परिणत हो गया। वह बौद्ध वाममार्ग है। संसार का सबसे पवित्र संयम एवं आचारात्मक धर्म किस प्रकार इस वाममार्ग में परिणत हो गया, सो मानव इतिहास को एक पहेली है। उस पर मैंने *भारतीय इतिहास की रूपरेखा* में अपने विचार प्रकट किये हैं। वज्रयान के आरम्भिक आचार्यों ने संस्कृत में ग्रंथ लिखे। उनमें से पद्मवज्र कृत *गुह्यसिद्धि*, उनके शिष्य अनंगवज्र-कृत *प्रज्ञोपाय-विनिश्चयसिद्धि*, उनके शिष्य उड्डीयान (स्वात नदी की दून[1]) के

---

१. दून शब्द संस्कृत *द्रोणी* का ठेठ हिन्दी रूप है, और उसका अर्थ है पहाड़ों के बीच घिरा हुआ मैदान। उस अर्थ में हिन्दी में *घाटी* का प्रयोग करना गलत है। घाटी का अर्थ है पहाड़ की गर्दन पर का रास्ता, छोटा घाटा।

राजा इन्द्रभूत-लिखित ज्ञानसिद्धि आदि कई ग्रन्थ प्राप्य हैं। सातवीं से नवीं सदी ई० तक इस पंथ के कुल चौरासी सिद्ध हुए जिनमें से पिछलों की वाणी अपभ्रंश या देशी भाषाओं में भी है। सुप्रसिद्ध गोरखनाथ उन्हीं सिद्धों में से थे। तिब्बत वालों के गुरु पद्मसंभव (७५० ई०) तथा दीपंकर अतिश (१०४०) वज्रयान के ही आचार्य थे। उनके समय में तिब्बत, मंगोलिया और अफ़ग़ानिस्तान से जावा सुमात्रा तक वह पन्थ फैल गया। इन आचार्यों और सिद्धों की रचनाएँ तिब्बती अनुवादों में भी सुरक्षित हैं। मानव इतिहास की उक्त भारी समस्या पर प्रकाश डालने के लिए उन ग्रन्थों का अध्ययन और मनन भी आवश्यक है।

बौद्ध वाममार्ग के साथ ही पौराणिक वाममार्ग के तन्त्रों की गिनती भी करनी चाहिए। शैव मार्ग में पाशुपत, कापाल और कालामुख पन्थों, वैष्णव मार्ग में गोपीलीला सम्प्रदाय, शाक्त में आनन्दभैरवी, त्रिपुरसुन्दरी या ललिता की पूजा के पन्थ और गाणपत्य में हरिद्रागणपति और उच्छिष्ट गणपति आदि की पूजा में वही प्रवृत्तियाँ प्रकट हुई हैं। इन पंथों के तन्त्र बौद्ध वज्रयान के तन्त्रों की तरह हैं।

---

११. जैन वाङ्मय

जैनों के प्रमाण-भूत धार्मिक वाङ्मय में अब ११ अंग, १२ उपाङ्ग, ५ या ६ छेद ग्रन्थ और ४ मूलग्रन्थ सम्मिलित हैं। यह गणना स्थानकवासी सम्प्रदाय के अनुसार है, दूसरे श्वेताम्बर १० पयन्ना या प्रकीर्ण ग्रन्थों की भी गिनती करते हैं, कई बार उनके अतिरिक्त ० और पयन्ना, १२ निर्युक्ति तथा ९ विविध ग्रन्थ सम्मिलित कर कुल ८४ प्रमाण ग्रन्थ माने जाते हैं। दिगम्बर इन ग्रन्थों को नहीं मानते, उनके चार वेदों की तरह चार अनुयोग हैं।

अंग शब्द पर ध्यान देना चाहिए; उसके प्रयोग से सूचित होता है कि जैन वाङ्मय का उदय वेदांगों के युग में या उसके ठीक बाद हुआ। जैन अनुश्रुति के अनुसार, भगवान् महावीर के शिष्य आचार्य सुधर्म ने जिस प्रकार महावीर के मुँह से सुना उसी प्रकार अंगों और उपांगों का पहले-पहल सम्पादन किया। वह बात पूर्व नन्द युग की होनी चाहिए, और इसमें सन्देह नहीं कि कुछ जैन वाङ्मय किसी न किसी रूप में पूर्व नन्द युग में उपस्थित था। आगे जैन अनुश्रुति यों है कि सुधर्म के बाद प्रमुख आचार्य जम्बुस्वामी हुए, फिर प्रभव, फिर स्वयम्भव; स्वयम्भव ने दशवैकालिक नामक मूल ग्रन्थ रचा। स्वयम्भव का समय इस प्रकार अन्दाजन नव नन्द युग के आरम्भ में पड़ता है। उनके उत्तराधिकारी यशोभद्र बतलाये जाते हैं, जिनके

पीछे केवल दो बरस के लिए सम्भूतविजय ने जैनों की प्रमुखता की। उनके बाद प्रसिद्ध भद्रबाहु आचार्य हुए जो चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन कहे जाते हैं। एक *नियुक्ति*—अर्थात् आरम्भिक धर्म-ग्रन्थों पर भाष्य—भद्रबाहु की लिखी मानी जाती है।

भद्रबाहु के समय मगध में एक घोर दुर्भिक्ष पड़ा जिसके कारण जैन साधु बड़ी संख्या में प्रवास कर कर्णाटक चले गये। जो पीछे रहे उनकी स्थूलभद्र आचार्य ने पाटलिपुत्र में संगत जुटाई, और उसी संगत में पहले-पहल जैन धर्म-ग्रंथों का संकलन किया गया। कहते हैं, उस समय ११ अंगों का तो सुविधा से संग्रह हो गया, पर १२वाँ, जिसमें १४ पूर्व थे, मगध में लुप्त हो चुका था। उन पूर्वों का ज्ञान केवल स्थूलभद्र को था, और उन्हें भी कम से कम १० पूर्वों का ज्ञान नेपाल में इस शर्त पर मिला था कि वे उन्हें गुप्त रक्खें। स्थूलभद्र और उनके साथियों ने मगध में रहते हुए कपड़े पहनना भी शुरू कर दिया। भद्रबाहु ने वापिस आने पर अपनी अनुपस्थिति में किये गये संकलन की प्रामाणिकता न मानी, और न कपड़े पहनना स्वीकार किया। किन्तु उस समय इन कारणों से जैन पन्थ के दो भाग न हुए। भद्रबाहु के बाद स्थूलभद्र ही जैनों के आचार्य हुए।

आजकल जो जैनों के *आचारांग सूत्र*, *समवायांग सूत्र*, *भगवती*, *उपासकदशांग*, *प्रश्नव्याकरण* आदि ११ अंग-ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उन

सब को ज्यों का त्यों स्थूलभद्र के समय का नहीं माना जा सकता। भद्रबाहु की कही जाने वाली *निर्युक्ति* में तो पहली शताब्दी ई० पू० तक की घटनाओं के निर्देश हैं। किन्तु उन ग्रन्थों के विशेष विशेष अंश उतने प्राचीन भी हैं, इसमें सन्देह नहीं।

जम्बुस्वामी के बाद स्थूलभद्र तक जो छः आचार्य हुए, उन्हें जैन लोग *श्रुतकेवली* कहते हैं, क्योंकि उन्हें पूर्ण *श्रुत* अर्थात् ज्ञान था, और वही उनका *कैवल्य* अर्थात् मोक्ष था। उसके बाद के सात आचार्य *दशपूर्वी* कहलाते हैं, क्योंकि उन्हें १२वें अङ्ग के दस पूर्वों का ज्ञान था। राजा अशोक के पोते सम्प्रति मौर्य को जैन बनाने वाले सुहस्ती उन्हीं में दूसरे थे। अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार में जैसी सहायता दी थी, सम्प्रति ने जैन धर्म के प्रचार में वैसी ही दी।

मौर्यों का पतन होने पर पाटलिपुत्र पर चढ़ाई करने वाले बलख के यूनानियों को खदेड़ भगाने वाला और पाण्ड्य देश से पञ्जाब तक का दिग्विजय करने वाला कलिङ्गदेश (उड़ीसा-तट) का चक्रवर्ती राजा खारवेल (लगभग १९५—१८२ ई० पू०) भी सम्प्रति की तरह जैन धर्म का अनन्य उपासक था। खारवेल के सुप्रसिद्ध हातीगुम्फा-अभिलेख में लिखा है कि उसने उड़ीसा के कुमारी-पर्वत पर जैन ऋषियों का एक *संघयन* जुटाया, और मौर्य काल में जो अङ्ग उच्छिन्न हो गये थे उन्हें उपस्थित किया। आश्चर्य है कि जैन वाङ्मय या अनुश्रुति में कहीं खारवेल का नाम भी नहीं पाया जाता!

अन्तिम दशपूर्वी आचार्य वज्रस्वामी का समय जैन अनुश्रुति के अनुसार लगभग ७० ई० आता है। कहते हैं कि उन्हीं के शिष्य आर्यरक्षित ने सूत्रों को अङ्ग उपांग आदि चार भेदों में विभक्त किया। यदि यह बात ठीक हो तो इसका अर्थ है कि मौर्य युग में जैन सूत्र इस रूप में विभक्त न थे। और सच बात यह है कि मौर्य युग में थोड़े ही सूत्र होंगे; अधिक होने पर ही उनके विभाग की आवश्यकता हुई। सातवाहन युग में जैन वाङ्मय के विभिन्न अंशों का विकास लगातार होता रहा। जैन धर्म-ग्रन्थों का अन्तिम रूप जो अब पाया जाता है, वह गुप्त युग में ४५४ ई० में काठियावाड की वलभी नगरी में हुए संघ में सम्पादित हुआ था।

आरम्भिक जैन वाङ्मय सब अर्ध-मागधी प्राकृत में था, जो कि उस अवधी भाषा का पूर्वरूप थी जिस में जायसी ने पदुमावत लिखी है। पिछली जैन रचनायें महाराष्ट्री प्राकृत और संस्कृत में हैं। जैन दर्शन का भी भारतीय दर्शन-शास्त्र के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। मध्य काल में अनेक जैन पुराण भी लिखे गये।

———

११. तमिळ वाङ्मय

सुदूर दक्खिन में आर्य सत्ता स्थापित होने पर पहले तो वहाँ आर्य भाषाओं से ही काम चलता रहा, और वहाँ के कुलीन और शिक्षित द्राविड लोग भी उन्हीं को वर्तने लगे। धीरे-धीरे आर्य प्रवासियों के प्रयत्नों से स्थानीय द्राविड बोलियाँ भी आर्य लिपि में लिखी जाने लगीं, उनका व्याकरण बनाया गया, तथा आर्य भाषा की कलम लगने से वे क्रमशः परिष्कृत भाषाएँ बन गईं। तमिळ भाषा का पहला व्याकरण अगस्त्य मुनि ने लिखा यह प्रसिद्ध है। वह अगस्त्य उत्तर भारत के प्रवासी आर्यों के कोई वंशज थे।

तमिळ भाषा की लता में वाङ्मय के फूल पहले-पहल आर्य रस के सींचे जाने से ईसवी सन् के प्रायः साथ-साथ प्रकट हुए। भारतवर्ष की अन्तिम दक्खिनी नोक—मदुरा और तिरुनेवली जिलों—में ४०० ई० पू० के लगभग उत्तर के आर्य प्रवासियों ने पाण्ड्य नाम का एक राज्य स्थापित किया था। उसी समय आर्य प्रवासियों के एक दूसरे प्रवाह ने सिंहल (लंका) पहुँच कर वहाँ अपना अधिकार स्थापित किया था। पाण्ड्य और सिंहल के प्रायः साथ साथ चोल और केरल राज्यों का उदय हुआ; पर कैसे हुआ, सो हम नहीं जानते। मौर्य और सातवाहन युगों में पाण्ड्य, चोल और केरल (या चेर)—ये तीन राज्य द्रविड देश में बने रहे। इन

राज्यों की छत्रछाया में तमिळ भाषा के पौदों में आर्य कलम लगने की उक्त प्रक्रिया चलती रही, और अन्त में इन्हीं के क्षेत्र में तमिळ वाङ्मय पहले पहल प्रकट हुआ। पाण्ड्य देश की राजधानी मधुरा वाङ्मय का एक बड़ा केन्द्र रही। सातवाहन संस्कृति प्रतिष्ठान (पैठन) से मधुरा में प्रतिबिम्बित होती। वहाँ तमिळ वाङ्मय का एक संघम् ईसवी सन् की पहली शताब्दियों—पिछले सातवाहन युग—में जुटता था। तमिळ वाङ्मय का कोई भी नया ग्रन्थ उस संघम्—अर्थात् साहित्य-परिषद्—से प्रमाणित होने पर ही प्रचार पाता। चोल, चेर और पाण्ड्य देश के कम से कम सात राजा वाङ्मय के बड़े संरक्षक माने गये। संघम्-युग में मामूलनार, परणर, तिरुवल्लुवर आदि महान् साहित्यसेवी प्रकट हुए। उसी युग में तमिळ व्याकरण *तोलकप्पियम्* लिखा गया और *बृहत्कथा* का तमिळ अनुवाद हुआ। *मणिमेखलै*, *शीलप्पतिकारम्* आदि अमर काव्य उसी युग की उपज हैं और तिरुवल्लुवर का *कुरल*—जो विश्व-वाङ्मय का एक अनमोल रत्न है—उसी संघम् की खान से प्रकट हुआ। संघम्-युग तमिळ इतिहास का सबसे उज्ज्वल युग है।

मध्य काल में तमिळ वाङ्मय में एक और लहर जारी रही। उस काल में अनेक *आलवारों* अर्थात् वैष्णव भक्तों और *नायन्मारों* अर्थात् शैव भक्तों ने जन्म लिया। तमिळ देश से बौद्ध और जैन धर्मों को निकालने का काम उन्हीं ने किया। उनकी कृतियाँ भक्तिप्रधान हैं। आलवारों ने अनेक *प्रबन्ध* (=गीत) लिखे

जिनके संग्रह तमिळ वैष्णवों के धर्मग्रन्थ हैं। तमिळ शैवों का विस्तृत वाङ्मय है जिसमें ग्यारह ग्रन्थ हैं। उसमें तिरुज्ञानसम्बन्ध के *तेवारम्* जो तमिळ शैवों के लिए वैदिक सूक्तों के समान हैं, माणिक्कवाशगर-कृत *तिरुवाशगम्* जो उनका उपनिषद् है, तिरुमूलर नामक योगी के रहस्यमय गीत *तिरुमन्त्रम्*, और सेक्किलार-कृत *पेरियपुराण* जिसमें तिरसठ नायन्मारों के वृत्तान्त हैं, सम्मिलित हैं।

मळयालम भाषा तमिळ से ही फट कर अलग हुई। कन्नड वाङ्मय तमिळ से कुछ पीछे का है। तेलुगु का वाङ्मय अन्य आधुनिक देशी भाषाओं की तरह नवीं दसवीं शताब्दी ई० से शुरू हुआ।

१२. सिंहली वाङ्मय

सिंहली एक आर्य भाषा है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि सिंहल में आर्य प्रवासियों की बहुत बड़ी संख्या पहुँची। सिंहली वाङ्मय बहुत पुराना था। अशोक का भाई या बेटा महेन्द्र और महेन्द्र की बहन संघमित्रा सिंहल में बौद्ध धर्म का सन्देश पहले-पहल ले गये थे। कहते हैं कि महेन्द्र ने ही पालि धर्मग्रन्थों की अट्ठकथाओं (=अर्थकथाओं, भाष्यों) का सिंहली में अनुवाद किया था। उन सबका अनुवाद महेन्द्र ने ही किया हो या उसने केवल उस कार्य का आरम्भ किया हो, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि पाँचवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्ध में सिंहली अट्ठकथायें

विद्यमान थीं। उस समय जब मगध के विद्वान् बुद्धघोष ने तिपिटक की अट्ठकथायें लिखनी चाहीं तब उसके गुरु रेवत ने उसे बताया कि भारत में केवल तिपिटक मिलता है, और अट्ठकथायें सिंहल में ही हैं। और रेवत की प्रेरणा से बुद्धघोष ने सिंहल जाकर अनुराधपुर के विहार में सिंहली अट्ठकथाओं का फिर से पालि अनुवाद किया। बुद्धघोष के कार्य को धम्मपाल आदि ने पूरा किया। सिंहली के उन प्राचीन ग्रन्थों का पालि अनुवाद हो जाने पर वे सिंहली ग्रन्थ बचे न रहे। उन ग्रन्थों की सिंहली भाषा वास्तव में एक प्राकृत ही होगी।

मध्य काल से नवीन सिंहली वाङ्मय शुरू हुआ। उसमें बौद्ध-धर्मोपदेशपरक ग्रन्थों, पालि वाङ्मय की टीकाओं और उस वाङ्मय पर निर्भर आख्यायिकाओं की प्रधानता है। उसमें कई *राजावलिय* अर्थात् ऐतिहासिक ग्रन्थ विशेष काम के हैं।

— — —

तीसरा अध्याय

बृहत्तर भारत का वाङ्मय

१. तुखारी, खोतनदेशी, सुग्धी और प्राचीन तुर्की वाङ्मय

आजकल के सिम-क्यिाङ (चीनी तुर्किस्तान) में कम से कम आठवीं शताब्दी ई० पू० से शक, तुखार, ऋषिक (युइचि) आदि जो जातियाँ रहती थीं, आधुनिक खोज ने सिद्ध किया है कि वे सब आर्य थीं[1]। अशोक के समय जब आर्यावर्त्ती आर्यों ने अपने उपनिवेश उनके देश में स्थापित किये, तब पहले तो वहाँ गान्धारी प्राकृत की प्रधानता हुई, परन्तु पीछे, जैसा द्रविड देश में हुआ था वैसा ही वहाँ भी हुआ। उस प्रदेश के तुखार आदि खानाबदोश निवासी आर्यावर्त्ती आर्यों के संसर्ग से सभ्य हुए, उन्होंने लिखना सीखा; उनकी बोलियाँ धीरे-धीरे लिखित भाषाएँ बन गईं, और वाङ्मय से पुष्पित होने लगीं। आधुनिक फ्रांसीसी

---

१. देखिए—*भारतभूमि और उसके निवासी* पृ० २१३—१८। वहीं पहले पहल यह भी सिद्ध किया गया था कि युइचि का संस्कृत रूप ऋषिक था। ओझा, कोनौ, जायसवाल और लेवी जैसे विद्वानों ने इसे स्वीकार कर लिया है।

बख्शाली पोथी का एक पन्ना (देखिए पृ० ४७)

अश्वघोष-कृत 'वज्रच्छेदिका' के खोतनदेशी अनुवाद की, सिमकियाङ् से पाई गई भोजपत्र पर लिखी पोथी का एक पन्ना

विद्वानों ने सिमकियाङ् देश का उन युगों के लिए नाम चीन-हिन्द (Serindia) रक्खा है। हिन्दी में हम उसे उपरला हिन्द भी कहने लगे हैं। चीन-हिन्द की दो स्थानीय भाषाएँ थीं। तारीम नदी के उत्तर कूचा के चौगिर्द प्रदेश की भाषा को उसके अपने लेखों में *आर्शी* कहा है; पर उइगूर तुर्कों ने जब उस देश को जीता तब वे उसकी भाषा को *तुखारी* कहते थे; और आज-कल के विद्वान् भी उसे कूची या तुखारी कहने लगे हैं। तारीम नदी के दक्खिन खोतन प्रदेश की भाषा के कई नाम तजवीज़ किये गये हैं, पर उनमें से खोतनदेशी नाम सबसे अच्छा है। तुखारी और खोतनदेशी दोनों आर्य भाषाएँ थीं;—तुखारी लातीनी-केल्त भाषाओं से मिलती-जुलती, और खोतनदेशी ईरानी भाषाओं से। वे दोनों पहले-पहल आर्यावर्त्ती लिपि में लिखी गईं, और गुप्त युग में परिष्कृत भाषाओं के रूप में प्रकट हुईं। उनके वाङ्मय—विचारों शैली और विषयों में—सर्वथा भारतीय और संस्कृत शब्दों से भरपूर रहे। उनका अधिकांश संस्कृत बौद्ध वाङ्मय से अनूदित था। धर्मग्रन्थों के अतिरिक्त ज्योतिष, वैद्यक, काव्य आदि ग्रन्थ उनमें थे। तुखारी साहित्य की विशेष वस्तु एक किस्म का नाटक था, जो ठीक बँगला *यात्रा* के नमूने का होता। तुखारी पद्यों के छन्द सब संस्कृत के हैं, पर उनके नाम नये हैं, जैसे मदनभारत, ओविलाप आदि। तुखारी और खोतनदेशी वाङ्मयों में से बचे हुए कुछ पत्रे ही अब मिले हैं। इन भाषाओं के पड़ोस की पूरबी ईरान की सुग्धी

६

भाषा में भी भारतीय ग्रन्थों के अनेक अनुवाद हुए। सुग्धी वाङ्-मय का आत्मा भी भारतीय रहा।

पाँचवीं शताब्दी ई० में एशिया के उत्तरपूरबी छोर से उठ कर हूण लोग उपरले हिन्द में आ बसे। हूणों की एक शाखा पीछे तुर्क कहलाई, और उनके कारण मध्य एशिया तुर्किस्तान बना। तुर्कों के वहाँ बसने पर संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद उनकी भाषा में भी हुए; तुर्की भाषा का सबसे पुराना वाङ्मय वही था। मध्य एशिया के प्राचीन स्थानों की खोज से अब कुछ संस्कृत रचनायें तुर्की अनुवाद सहित पाई गई हैं। रूसी विद्वानों ने उन्हें प्रकाशित किया है। महमूद गज़नवी के समय से कुछ पहले तुर्क मुसलमान होने लगे। अब कमाल अतातुर्क ने फिर लहर पलट दी है। तरुण तुर्कों ने अपनी भाषा को अरबी लिपि के बन्धन से जब मुक्त से किया है, तब से वे उन अरबी शब्दों को भी चुन-चुन कर निकाल रहे हैं जो मुस्लिम युग में उसमें घुस आये थे, और उनके स्थान को वे उन ठेठ तुर्की शब्दों से भर रहे हैं जो संस्कृत से अनूदित उन प्राचीन तुर्की ग्रन्थों में पाये जाते हैं। इस दृष्टि से उन्होंने उस पुराने भारतीय तुर्की वाङ्मय का मनन शुरू किया है, और आधुनिक तुर्की वाङ्मय की दार्शनिक परिभाषायें सब उन्हीं से ले ली हैं।

---

२. तिब्बती वाङ्मय

चीन-हिन्द या उपरले हिन्द से आर्यावर्त्ती वर्णमाला और वाङ्मय ने तिब्बत पहुँच कर वहाँ की खानाबदोश जनता की बोली को लिखित और परिष्कृत भाषा बना दिया। उसी जागृति का परिणाम यह हुआ कि सातवीं शताब्दी ई० में तिब्बत में पहला साम्राज्य स्थापित हुआ। हर्षवर्द्धन के समकालीन पहले तिब्बती सम्राट स्रोङ्चनगम्बो के समय से बारहवीं शताब्दी ई० के अन्त तक उत्तर भारत से अनेक विद्वान् तिब्बत जाते रहे। उन्होंने वहाँ भोटिया लेखकों की सहायता से एक विशाल वाङ्मय की सृष्टि की। तिब्बती बौद्ध वाङ्मय के कं-ज्यूर और तं-ज्यूर दो मुख्य अंश हैं। कंज्यूर में महायान और वज्रयान के ग्रन्थों के अनुवाद हैं, तंज्यूर में अनुवादकों के वृत्तान्त और व्याख्या। भारतीय पण्डितों के तिब्बत जाने और वहाँ काम करने का वृत्तान्त स्वयं एक अत्यन्त रुचिकर प्रकरण है। बुस्तोन (१३ वीं शताब्दी) और तारानाथ (सोलहवीं शताब्दी ई०) के बौद्ध धर्म के इतिहास की तरह और कई ऐतिहासिक ग्रन्थ भी उस वाङ्मय में हैं। कई खोतनी ग्रन्थ भी तिब्बती अनुवादों में सुरक्षित हैं, जैसे *गोशृंग व्याकरण*—अर्थात् खोतन के गोशृंग-विहार का इतिहास।

तिब्बत के द्वारा भारतीय वाङ्मय मध्य काल में किस प्रकार मंगोलिया पहुँचा, सो और भी रहस्यपूर्ण और मनोरञ्जक वृत्तान्त

है। मुहम्मद-बिन-बख्तियार खिलजी जब मगध को तहसनहस कर रहा था तब शाक्यश्रीभद्र नामक वृद्ध कश्मीरी पण्डित विक्रमशिला विहार के प्रमुख थे। विक्रमशिला से भाग कर वे बंगाल पहुँचे, और वहाँ से नेपाल। नेपाल से वे तिब्बत के साक्य गुम्पा (विहार) में बुलाये गये। उस विहार का महन्त कुगर्ग्येछन् उनका शिष्य हो गया; भारतीय गुरु से उसे एक नई स्फूर्ति मिली। जब विश्वविजयी चंगेजखान अफगानिस्तान जीत रहा था, तभी कुङ्गर्ग्येछन् मंगोलिया का धर्मविजय करने पहुँचा। उसे पूरी सफलता हुई। चंगेज का बेटा सम्राट् ओगोतई उसका शिष्य हो गया। ओगोतई के भतीजे सम्राट् मानकूखान ने सब मतों की एक सभा बुलाई, जिसमें कुङ्गर्ग्येछन् के तरुण भतीजे प्रतिभाशाली फग्स्पा के सामने बड़े बड़े ईसाई और मुस्लिम विद्वानों की कुछ न चली। मानकू ने अन्त में फैसला दिया कि जैसे हाथ की अँगुलियाँ हथेली में से निकली हैं, वैसे ही सब मत बौद्ध मत से निकले हैं। मानकू का भाई और उत्तराधिकारी सम्राट् कुबलैखान फग्स्पा का शिष्य बना। यों मंगोलिया में बौद्ध मत की जड़ जमी और मंगोल भाषा में अनेक बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद हुए। फग्स्पा ने १२६० ई० के करीब मंगोल भाषा को भी भारतीय पद्धति की एक लिपि में लिखने की प्रथा चलानी चाही। उस के लेख मंगोल सम्राटों के कई स्वर्ण-फलकों पर पाये गये हैं। उस लिपि की वर्णमाला भारतीय थी, पर उसके अक्षरचिह्न ऐसे घेरेदार और यन्त्रों की कुण्डलियों की तरह रहस्यपूर्ण से थे कि उन का जनसाधारण

में चलना सम्भव न था। इसी से मंगोल भाषा को भारतीय लिपि में लिखने का रिवाज न चला। रहस्यवाद के पाले ने मङ्गोलिया में भारतीय संस्कृति की वेल को फलने न दिया।

३. चीनी वाङ्मय में भारतीय अंश

चीन में भारतीय वाङ्मय और ज्ञान कैसे पहुँचा उसकी कहानी लंबी है, और यहाँ उसे छेड़ा नहीं जा सकता। भारतीय वाङ्मय के चीन में पहुँचने, अनूदित होने और अपना प्रभाव डालने की परम्परा ईस्वी सन् के आरम्भ से लेकर लगातार सवा हज़ार बरस तक चलती रही। भारत और चीन के उस पारस्परिक सहयोग के इतिहास में अनेक महापुरुषों के नाम, अनेक निष्ठा और साहस से पूर्ण चरित तथा अनेक रोमाञ्चकारी घटनायें हैं। चीनी वाङ्मय के सहारे एक तो हम भारतीय वाङ्मय के बहुत से लुप्त रत्नों को वापिस पा सकते हैं; दूसरे, चीन में सवा हज़ार बरस तक भारतीय रोशनी पहुँचते रहने के मनोरञ्जक और अद्भुत वृत्तान्त का तथा उस वृत्तान्त में गुँथे हुए अनेक मनस्वियों के चरित्रों का उद्धार कर सकते हैं; तीसरे जो चीनी विद्वान् दोनों देशों के उक्त सहयोग के सिलसिले में भारत आते रहे उनके भारतीय अनुभव और वृत्तान्त हमारे लिए बड़े काम के हैं, और वे हमें चीनी वाङ्मय से ही मिल सकते हैं। चीन से भारतीय संस्कृति और वाङ्मय कोरिया और जापान भी पहुँचे। कोरिया की अपनी वर्णमाला अब भी भारतीय है।

४. फ़ारसी और अरबी वाङ्मयों पर भारतीय प्रभाव

सुग्धी भाषा प्राचीन ईरान के पूरबी भाग की थी, और उसका वाङ्मय संस्कृत से अनूदित था सो हमने देखा। वह गुप्त युग की बात है। उससे पहले सातवाहन युग में भी ईरान पर भारतीय संस्कृति का काफ़ी प्रभाव पड़ चुका था। १४४ ई० में चीन में लोकोत्तम नाम का एक भिक्खु पहुँचा था, और उसी ने वहाँ संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद करने की नींव पहले-पहल जमाई थी। लोकोत्तम ईरान का एक युवराज था, और अपने राज-पाट को छोड़ वह भिक्खु बना था। भारतीय वाङ्मय के अनेक ग्रन्थ पिछले युगों में भी ईरान में अनूदित होते रहे। सुप्रसिद्ध पञ्चतन्त्र का संस्कृत से फ़ारसी अनुवाद हुआ, और फ़ारसी से अरबी। वहाँ वह *कलील* और *दिम्न* (करटक-दमनक) की कहानी कहलाई। वैसी बात अन्य अनेक ग्रन्थों के विषय में भी हुई। फ़ारसी से अरबी में अनूदित भारतीय रचनाओं में एक वैद्यक-ग्रन्थ भी था। वह शायद चरक-संहिता ही रही हो।

भारत और अरब का पीछे सीधा सम्बन्ध हुआ। वह चीन और भारत के सम्बन्ध से ठीक उलटे नमूने का था और अरब जाति की समृद्धि की तरह वह सम्बन्ध भी अल्पायु रहा। अरब लोग शत्रु के रूप में सातवीं-आठवीं शताब्दियों में भारत के

सीमान्त पर मँडराते रहे। मध्य एशिया के देश उनके आने से पहले भारतीय सभ्यता के बड़े केन्द्र थे। आठवीं सदी के शुरू में जब सिन्ध और बलख को अरबों ने जीत लिया, तब भारतीय ज्ञान और संस्कृति का प्रभाव खलीफ़ाओं के दरबार में प्रकट होने लगा। संस्कृत से वैद्यक, ज्योतिष, नीति, काव्य, इतिहास आदि के अनेक ग्रन्थों के अरबी अनुवाद किये गये। खलीफा मंसूर के समय (७५३—७४ ई०) सिन्ध से बगदाद आने वाले दूत अपने साथ ब्रह्मगुप्त ('सिन्दहिन्द') का *ब्रह्मसिद्धान्त* और *खण्ड-खाद्यक* ('अरकन्द') लाये; भारतीय पण्डितों की सहायता से अल-फ़ज़ारी और याकूब-इब्न-तारिक ने उनका उल्था किया। उन उल्थों का अरबों के ज्ञान पर बड़ा प्रभाव हुआ; अरब लोगों को वैज्ञानिक ज्योतिष का पता पहले-पहल उन्हीं से मिला। फिर खलीफा हारूँल रशीद के समय (७८६—८०९ ई०) हिन्दू ज्ञान के प्रवाह से बगदाद का दरबार आप्लावित हो उठा। 'बरमक' नामक वज़ीर-खानदान की वहाँ बड़ी ताकत थी; वे लोग बलख के थे, उनके पूर्वज बलख के नव-विहार में पदाधिकारी रह चुके थे। वे नाम को ही मुसलमान बने थे; उस समय के लोग भी यह बात खूब जानते थे कि वे केवल नाम को मुसलमान हुए हैं। पुराने रिश्ते-नातों के कारण वे भारत से हिन्दू विद्वानों को बगदाद मँगाते, और उन्हें वहाँ वैद्य आदि के पदों पर रखते। अरब विद्यार्थियों और विद्वानों को वे अध्ययन के लिए भारत भेजते। वैद्यक, ज्योतिष, दर्शन, इतिहास आदि के अनेक ग्रन्थों के उन्होंने

संस्कृत से अरबी उल्थे करवाये। अलमुवफ्फक नामक विद्वान् को बरबक ने भारत भेजा था, वह अलबेरूनी का पूर्वगामी था। ७४३ हिजरी में खजराजी इब्न अबी उसैबिया नामक अरब लेखक ने संसार के वैज्ञानिकों का एक इतिहास लिखा, उसमें उसने भारतीय वैज्ञानिकों के भी नाम दिये।

उस युग में जो भारतीय ग्रन्थ-रत्न अरबी में अपनाये गये, उनके अब नाम मात्र मिलते हैं उन नामों को चीन्हना भी कठिन है। तो भी आगामी खोज धीरे धीरे उनका पता निकाल लेगी। अरबी उल्थों में बचे हुए अनेक लुप्त भारतीय रत्नों का वैसी खोज से किस प्रकार फिर से पता मिल सकता है, इस का एक ताजा उदाहरण है। अबू सालेह इब्न शुऐब नामक एक अरब लेखक ने एक भारतीय इतिहास-ग्रन्थ का अनुवाद किया जिसका फिर फारसी अनुवाद १०२६ ई० में हुआ। उस फारसी पुस्तक का उपयोग अबुल हसन अली (११२६—११६३ ई०) ने *मुजमल-उत तवारीख* में किया, जिसके अंशों का अनुवाद ईलियट ने अपने भारतवर्ष के इतिहास में दिया है। श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल ने दिखलाया है कि वह प्राचीन भारत और विशेष कर सिन्ध के इतिहास का अनमोल ग्रन्थ है। उसमें *रव्वाल* और *बर्कमारिस* (रामपाल और विक्रमादित्य अर्थात् रामगुप्त और चन्द्रगुप्त) का वृत्तान्त भी है। रव्वाल के वज़ीर सिकर (= शिखर) के ग्रन्थ का संक्षेप अबू सालेह ने *अदबुल-मुलूक* नाम से किया। जायसवाल जी का कहना है कि शिखर ही कामन्दक

था, और अबदुल-मुलूक कामकन्दीय राजनीति का ही संक्षेप है।

अरब के भारतीय वाङ्मय में महमूद गज़नवी के कैदी संस्कृत के विद्वान् अलबेरुनी का ग्रन्थ सबसे अधिक प्रसिद्ध है।

५. परले हिन्द और हिन्दी द्वीपों के वाङ्मय

भारतवर्ष और चीन के बीच जो विशाल प्रायद्वीप है, उसे आज परला हिन्द(Further India)अथवा हिंदचीन कहते हैं। हिंदचीन से सूचित होता है कि उसमें आधा अंश हिंद का और आधा चीन का है। पर सच बात यह है कि तेरहवीं-चौहदवीं शताब्दी ई० से पहले उसमें चीन का कुछ अंश न था, वह पूरी तरह *परला हिन्द* ही था। अशोक के समय हमारे प्राग्ज्योतिष (असम प्रान्त) से लेकर चीन के *नानशान* अर्थात् दक्खिनी पहाड़ तक उस समूचे विशाल देश में तथा उसके दक्खिन समुद्र की द्वीपावली में निरी जंगली जातियाँ रहती थीं, जो पत्थर के चिकने हथियारों से जंगली जानवरों का शिकार कर अपनी जीविका चलाती थीं। विद्वानों का मत है कि वे जातियाँ हमारे देश की संथाल, मुंडा, शबर, खासी आदि जातियों की सगोत्र थीं। सभ्य संसार के आग्नेय कोण में रहने के कारण जर्मन विद्वान् शिमट ने उनके वंश का नाम आग्नेय (Austric) रक्खा है[1]। अशोक से भी पहले महाजनपदों

---

१. पूरी विवेचना के लिए देखिए—भारतभूमि और उसके

के युग में उनके देश में भारतीय नाविक जाने-आने लगे, और वहाँ सोने की खानें पाने के कारण उन्होंने उसे *सुवर्ण-भूमि* तथा उसके कई द्वीपों को *सुवर्ण-द्वीप* नाम दिया। अशोक के समय सुवर्ण भूमि में भी बुद्ध का सन्देश पहुँचाया गया। उसके बाद सातवाहन युग में उस विशाल प्रायद्वीप और उस द्वीपावली के एक छोर से दूसरे छोर तक भारतीय उपनिवेश बस गये। उन उपनिवेशों के संसर्ग से स्थानीय आग्नेय जातियाँ भी सभ्य हो चलीं, और आर्यों के धर्म-कर्म रीति-रिवाज भाषा लिपि और नामों तक को अपनाती गईं। ईसवी सन् के आरम्भ से तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी तक वहाँ अनेक भारतीय राज्य बने रहे, जिनमें संस्कृत राजभाषा के रूप में वर्त्ती जाती रही। किन्तु जैसे दक्खिन भारत और उपरले हिंद में हुआ था, वैसे ही वहाँ भी आर्यावर्त्ती वर्णमाला और वाङ्मय के संसर्ग से स्थानीय बोलियाँ अनेक शताब्दियों बाद परिष्कृत हो कर लिखित भाषाएँ बन गईं, और वाङ्मयों का विकास करने लगीं। उनकी लिपि और वर्णमाला आर्यावर्त्ती रहीं, उनमें संस्कृत शब्दों की कलम लग गई, और उनमें जो वाङ्मय खिला वह सर्वथा भारतीय नमूने का। इस प्रकार कम्बुज की कम्बुजी या ख्मेर भाषा, चम्पा उपनिवेश (आधुनिक व्येतनम् या व्येतमिन्ह) की चम भाषा और

निवासी, § ४१। हुनगारी के विद्वान् दि हूवेसी ने शिमट की स्थापना के लिए प्रमाण जुटाई है।

जावा की कवि भाषा आर्यावर्त्ती अक्षरों में लिखी गई और उनमें वाङ्मय का अच्छा विकास हुआ। कवि और उसके अतिरिक्त हिन्द द्वीपावली[1] की पाँच और भाषाओं की लिपियाँ वास्तव में कम्बुजी से ही निकलीं[2]। इन सब भाषाओं के वाङ्मय पूरी तरह भारतीव वाङ्मय पर निर्भर और भारतीय आदर्शों से अनुप्राणित हैं। कवि भाषा नवीं शताब्दी ई० से अभिलेखों

---

१. सुमात्रा, जावा आदि द्वीपों के समूह को युरोपी लोग इंदोनीशिया या इंसुलिंद कहते हैं, जिसका शब्दार्थ है—हिन्द-दीप या द्वीप-हिन्द। भारतीय भाषाओं में उन नामों का अनुवाद हिन्द-द्वीपावली; हिन्दी द्वीपावली या द्वीपमय हिन्द होना चाहिए। दूसरे विश्व युद्ध के अन्त में जब इन द्वीपों के लोग स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में उठ खड़े हुए और उस राष्ट्र का नाम रोज़ रोज़ अखबारों में आने लगा, तब हिन्दी के कुछ अज्ञ अखबारनवीसों ने *इंदोनीशिया* के अन्तिम अंश का *एशिया* शब्द से सम्बन्ध समझकर उसका अनुवाद किया—हिन्देशिया! यह निरर्थक, अनर्गल और अज्ञानसूचक शब्द बहुत से हिन्दी अखबारों में तब से चल रहा है। दूसरों को अब तक यह नहीं सूझ रहा है कि *इन्दोनीशिया* का क्या अनुवाद करें। उसका अनुवाद ही करना हो तो हिन्द द्वीपावली या द्वीपमय हिन्द ही कहना होगा; पर बेहतर यह है कि हम अपने पूर्वजों के दिये हुए पुराने नाम *सुवर्णद्वीप* का ही बहुवचन में प्रयोग करें।

२. भारतभूमि और उसके निवासी, पृ० २७०।

में संस्कृत के साथ-साथ प्रकट होने लगी। फिर, बारहवीं शताब्दी में उसमें साहित्य का स्वर्णयुग रहा। उसमें अनेक अच्छे काव्य—अर्जुनविवाह, विराट् पर्व, स्मरदहन, भारत-युद्ध आदि—तथा इतिहास-ग्रन्थ—नागरकृतागम आदि—है।

उपसंहार

बारहवीं शताब्दी के कुछ पहले और कुछ पीछे भारतवर्ष की अपनी देशी भाषाओं का भी उदय होने लगा। उनके वाङ्मयों का विषय बहुत कुछ परिचित है। इस पुस्तिका में उसे न छेड़ा जायगा।

उपर्युक्त विवेचना से यह प्रकट हुआ होगा कि भारतीय वर्णमाला और वाङ्मय के अभ्युदय और अवनति का इतिहास वास्तव में भारतवर्ष के अभ्युदय और अवनति का इतिहास है। एक के बिना हम दूसरे को नहीं समझ सकते।

इस विषय का आगे अध्ययन जो पाठक-पाठिका करना चाहें वे मेरे ग्रन्थ *'भारतीय इतिहास की रूपरेखा'* के निम्नलिखित अंशों को विशेष रूप से पढ़ें—§§ २३, ४३, ४९, ६६; ७२, ७७, ७८, ७९, ८२ उ, ९६, ११२, ११३, ११५, १४६ इ-लृ, १५४, १७५, १८५ इ, १९० और १९१; परिशिष्ट अ [३] और इ; ** ४, ६, १४, १६ और २५।